पावन-प्रवाह

—रचयिता—

श्रीमान् कविरत्न पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ

अध्यक्ष—श्री दि० जैन महापाठशाला

मणिहारों का रास्ता,

जयपुर सिटी।

—[अनुवादक]—

श्री० पं० मिलापचन्द जी न्यायतीर्थ

—प्रकाशक—

श्रीप्रकाश शास्त्री,

मंत्री—सद्बोध ग्रंथमाला,

मणिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

प्रथमबार ५०० प्रति	आश्विन, वीर संवत २४६८	मूल्य ।=) छः आने

* विषय-सूची *
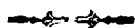
सद्बोध ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प 'पावन-प्रवाह' पाठकों की सेवा में समर्पित करते हुये मुझे प्रसन्नता है। अधिक न लिख कर केवल इसके उद्गम और प्रकाशन की कहानी मैं आप को दो शब्दों में सुनाता हूं। जब जैनबन्धु' (पाक्षिक पत्र) निकलता था, उसमें सूक्तियों के संग्रह की आवश्यकता प्रतीत हुई और तदर्थ सूक्तियां ढूंढी जाने लगीं। कई बार पर्याप्त समय लग जाने पर भी इच्छानुसार सूक्तियां नहीं मिलती थीं। एक बार अन्य संग्रह के साथ श्रीमान गुरुवर्य पं० चैनसुखदास जी साहब ने स्वयं कुछ सूक्तियां लिखाईं और वे अन्यत्र के संग्रह से अधिक मनोरम जान पड़ीं। तब उन से यही प्रार्थना की गई कि आप ही प्रत्येक अङ्क के लिये विभिन्न विषयों पर नवीन सूक्तियां की रचना करने की कृपा करें। उन्होंने प्रार्थना स्वीकार करने की कृपा की। उसी कृपा का फल यह 'पावन-प्रवाह' आप के सामने है।

अनेक पाठक जानते होंगे कि 'जैन-बन्धु' में यह रचना हिन्दी अर्थ के साथ प्रकाशित हो चुकी है; पर 'बन्धु' के वे सब अङ्क अब हस्तगत नहीं हैं और इसके अधिक प्रचार की आव-

श्यकता अब तक बनी हुई है। कई मित्रों का इसके पुन: प्रकाशन के लिये कई बार तकाजा हुआ। अत: मित्रों के आग्रह से बाध्य हो कर सद्बोध ग्रन्थमाला में इस बार इसी को प्रकाशित किया गया है।

इस पुस्तक के मुद्रण का पूरा खर्च श्री० मुन्शी केशरलाल जी वकील डिग्गी वालों ने ग्रन्थमाला की सहायतार्थ प्रदान किया है। अत: इस प्रकाशन के लिये वे हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। आप बहुत ही मिलनसार एवं नम्र सज्जन हैं। हम आपका चित्र एवं परिचय दोनों प्रकाशित करना चाहते थे, मगर बहुत सा आग्रह करने पर भी आपने इसके लिये अनुमति नहीं दी। अन्य महानुभावों को भी आपके दान का अनुकरण करके ज्ञान प्रचार में सहायक बनना चाहिये और लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनना चाहिये।

निवेदक—
मन्त्री—सद्बोध ग्रन्थमाला
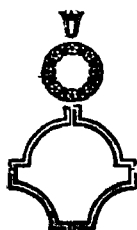
अनुवादक की ओर से

इस पावन प्रवाह की रचना कितनी सुन्दर एवं उपयोगी है, इसके लिये मेरा कुछ लिखना व्यर्थ है। आप इसकी ठीक उपयोगिता तो तन्मयता से इसका स्वाध्याय करके और इसकी पवित्र भावनाओ मे गद्गद होकर ही जान सकते हैं। इसे ध्यान से पढ़ने पर आपको आध्यात्मिक आनन्द आवेगा, आत्मिक सन्तोष होगा। मुझे तो इसके कई प्रकरण बहुत ही रुचिकर लगते हैं, उन्हें बार-बार पढ़ने पर भी मेरा जी नही भरता। मैं इसके पद्यों मे आत्मा की खुराक पाता हूं। आदरणीय लेखक महोदय भी इसके अनेक पद्यों को पढ़कर भावावेश से गद्गद हो उठते हैं और उनके मुखसे इस सरस रचना को सुनने वाले अपने आपको भूल ही जाते है। वास्तव में यह रचना उन्होने 'स्वान्तः सुखाय' ही की थी, जिससे अन्य पाठकों को काफी लाभ पहुचा। 'जैन-बन्धु' में हिन्दी अर्थ के साथ-साथ इसका प्रकाशन आरम्भ हुआ तब साधारण पाठक इसके केवल हिन्दी अर्थ को पढ़ कर भी सन्तुष्ट हुये थे। आप इतने में ही सब कुछ समझ लीजिये कि जैनेतर प्रसिद्ध विद्वानों ने भी, इसके कई प्रकरणों की, जो संस्कृत के पत्र में उनके सामने आये, बहुत सराहना की थी।

अच्छा होता, इस हृदयग्राही रचना का स्वयं श्रद्धेय लेखक महोदय ही विस्तृत अनुवाद करते। मैंने इसके लिये उनसे प्रार्थना भी की थी, पर दुःख है स्वास्थ्य ठीक न रहने से वे ऐसा न कर सके। मुझ से जैसा कुछ बन पड़ा, पहिले जैनबन्धु मे प्रकाशित हुआ संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद ही कुछ संशोधन के साथ आपकी सेवा मे पेश कर रहा हू। अनुवाद की त्रुटियों के कारण मूल रचना के सौन्दर्य भङ्ग के अपराध के लिये अपने माननीय लेखक महोदय से मैं क्षमा चाहता हूं।

इस संस्करण के संशोधन तथा प्रथम बार के अनुवाद में भी मुझे सुहृद्वर प० श्रीप्रकाश जी से सहायता मिली है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूं।

—अनुवादक

श्री परमब्रह्मणे नमः

पावन-प्रवाह

अनासक्तिः

अनासक्तिः परो योगः अनासक्तिः परं तपः ।
अनासक्तिः परो धर्मः अनासक्तिः परं हितम् ॥१॥

अर्थ—किसी कार्य को कर्तव्य समझ कर करना; उसमें किसी तरह के फल की आशा न रखना अनासक्ति है । यह अनासक्ति ही उत्कृष्ट योग है । योग का अर्थ है आत्मामें लग जाना । जो आसक्त होकर कार्य नहीं करता वह आत्मस्थ होने के कारण उत्कृष्ट योगी है । आसक्ति राग-द्वेष करने वाली है क्योंकि आसक्ति से राग-द्वेष पैदा होते हैं । उत्कृष्ट तपस्वी वही है जो अपने कार्य को आसक्त होकर नहीं करता । अनासक्ति ही सच्चा धर्म और आत्मा का हित करने वाली वस्तु है ।

अनासक्तिः परं तत्त्वमनासक्तिर्महाबलम् ।
अनासक्तिं विना कृत्यं न किञ्चित्फलवद्भवेत् ॥२॥

अर्थ—सब तत्वों में सर्वोत्कृष्ट तत्व अनासक्ति है। अनासक्ति ही आत्मा का महान बल है। जो विषयों में अथवा संसार के कार्यों में आसक्त रहता है—उसका आत्मा बलवान नहीं होता। वह आत्मिक एवं नैतिक दृष्टि से बहुत निर्बल रहता है। उन लोगों के सब कार्य निष्फल होते हैं जो आसक्त होकर कार्यों को करते हैं।

अनासक्त्यैव सिद्धाः स्युः योगिनो मुनयस्तथा ।
अनासक्तिं विना सर्वमनुष्ठानं भवेन्मुधा ॥३॥

अर्थ—सिद्ध, योगी, मुनि अथवा ऋषि अनासक्ति से ही होते हैं। शास्त्रविहित अनुष्ठान भी तब तक व्यर्थ हैं जब तक उनमें से आसक्ति नहीं हटाई जाती।

अनासक्तिस्तु या पूर्णा राजते हृदयेऽमले ।
धर्मस्तत्रैव तत्रैव चेश्वरो राजते ध्रुवम् ॥४॥

अर्थ—जिस पुरुष के शुद्ध हृदय में अनासक्ति पूर्ण होकर सुशोभित होती है धर्म भी वहां ही रहता है; क्योंकि धर्मका स्वरूप ही अनासक्ति है। ईश्वर भी इसी प्रकार के शुद्ध हृदय में निवास करता है। यदि कोई प्राणी अपने हृदय में परमात्मा के बैठने का आसन बनाना चाहे तो उसको प्रत्येक कार्य अनासक्ति से करना चाहिये। यही परमात्मत्व प्राप्त करने का राजमार्ग है।

आसक्त्यैव प्रजायंते दुःखानि निखिलान्यपि ।
अनासक्तिपरो यस्तु दुःखं नाप्नोति कर्हिचित् ॥५॥

संसार में जितने भी दुःख है वे सब आसक्ति से उत्पन्न होते है। यदि आसक्ति न हो तो दुःखो का अनुभव कभी न होगा। आसक्तिमान पुरुष के लिये जो वस्तु दुःखदायी है, अनासक्त योगी को उससे कभी दुःख न होगा। जो अनासक्ति में तत्पर है उसको कहीं और कभी भी दुःख होने का प्रसंग नहीं आ सकता।

आसक्त्या रागविद्वेषौ ताभ्यां चेयं समुद्भवेत् ।
त्रयोप्येते ततस्त्याज्याः जनेन हितमिच्छुना ॥६॥

आसक्ति से राग-द्वेष पैदा होते है और राग-द्वेष से आसक्ति की उत्पत्ति होती है। इनमे परस्पर कार्यकारण भाव है। ये दोनो एक दूसरे के कार्य भी है और कारण भी। अतः जो मनुष्य अपने हित का अभिलाषी है वह इन तीनो का ही परित्याग कर दे।

सर्वधर्मेष्वनासक्तिः प्राधान्यमवलम्बते ।
धर्माचार्यैरतः सर्वैः समाश्रेयं विशेषतः ॥७॥

ससार मे जितने भी धर्म है उन सभी धर्मों मे अनासक्ति को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि सब धर्माचार्यों ने अनासक्ति को विशेष रूप से स्वीकार किया है।

फलेप्सया न कर्तव्यं किञ्चित्कर्म मनीषिभिः।
किन्तु कर्तव्यमित्यास्थां विधाय विधिवच्चरेत् ॥८॥

विद्वानों को कोई भी काम फल की इच्छा से नहीं करना चाहिये। किन्तु यह समझ कर कि 'यह कार्य करना हमारा कर्तव्य है'—विधिपूर्वक स्वोचित कार्य को करना चाहिये। जो मनुष्य कर्तव्य समझ कर अपना कार्य नहीं करता वह उसको अच्छी तरह से नहीं कर सकता। जो कार्य करने के लिये ही कार्य करता है, कर्तव्य के सच्चे फल को वही मनुष्य प्राप्त होता है।

ऐहिकफलेष्वनासक्त्या ये स्वीयं कर्म कुर्वते।
त एव प्राप्नुवन्तीह परत्र च महासुखम् ॥९॥

जो इस संसार के विषय-सुखमय फलों में अनासक्त होकर अपना कार्य करते हैं वे ही इस लोक तथा परलोकमें महासुखी रहते हैं। सुख को नष्ट करने का कारण आसक्ति है। जब आसक्ति न रहेगी तब दु:ख न होगा। और दु:ख के न रहने पर यह आत्मा सुख का ही अनुभव करेगा।

अपास्य याचनां भक्तिं कुर्वतोऽस्य जनस्य वै।
फलन्ति भूतयः सर्वाः नश्यन्ति विपदोऽखिलाः ॥१०

जो किसी भी प्रकार की कामना व याचना को छोड़ कर भगवान की भक्ति करता है, उस मनुष्य को अपने आप ही सब विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं। और उसकी सारी विपत्तियां भी अपने आप ही नष्ट हो जाती हैं।

आत्मनः शुद्धिमीहन्ते ये जनास्ते विवेकिनः।
इमां भजेयुर्निःशङ्कमिहामुत्र फल-प्रदाम् ॥११॥

जो लोग अपने आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं वे विवेकी हैं। विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है कि इस लोक और परलोक दोनों में फल देने वाली इस अनासक्ति की अवश्य उपासना करें।

आत्मप्रेमातिरिक्तं वै सर्वं मिथ्यास्ति वस्त्विह।
अतः कस्तेष्वहङ्कारं करोति मतिमान्नरः ॥१२॥

इस जगत में सब पदार्थों में सारभूत पदार्थ आत्मा ही है। इस लिये उसी से प्रेम करना चाहिये। आत्म-प्रेम के अतिरिक्त सब वस्तुएं मिथ्या हैं—तुच्छ हैं। अतः विवेकियों को आत्मा को छोड़ कर अन्य वस्तुओं में कभी प्रेम व अहङ्कार नहीं करना चाहिये।

तद्धि श्रेयस्करं ज्ञानं येनासक्तिर्विनश्यते।
अनित्याशुचिदुःखेषु निखिलक्लेशकारिणी ॥१३॥

वही ज्ञान श्रेष्ठ है जिससे सारे दुःखों का कारण अनित्य, अशुचि और दुःख रूप पदार्थों में होने वाली आसक्ति नष्ट हो जाती है।

महद्भिर्वचनैरेव न कश्चित् पुण्यभाग्भवेत्।
निर्मलं जीवनं पुंसो महत्ता-कारणं भवेत् ॥१४॥

बड़ी २ बातें करने से कोई आदमी बड़ा नहीं हो जाता। केवल बातें ही उसको पवित्र नहीं बना सकतीं। उसकी महत्ता

एवं उच्चता का कारण तो केवल उसका क्रियात्मक पवित्र जीवन ही है।

धर्मशास्त्राणि सर्वाणि कण्ठस्थानि तथापि किम्।
तत्त्व-ज्ञानविहीनानां पठनं पाठनं वृथा ॥१५॥

यदि सारे के सारे धर्म ग्रन्थ तुम्हें कण्ठस्थ हैं तो होंगे, इससे क्या हुआ? तुमने अपने आपको तो जाना ही नहीं। तुम वास्तविकता से तो बहुत दूर हो जो कि आत्मा के कल्याण का मार्ग है तुमको याद रखना चाहिए कि तत्त्व-ज्ञान-विहीन मनुष्यों का पढ़ना और पढ़ाना सब वृथा है।

सर्व-दर्शन-तत्त्वज्ञः सर्व-धर्म विशारदः।
अहं-तत्त्वं न जानाति चेत्तदा तुष-खण्डनम् ॥१६॥

जो सब दर्शनों के स्वरूप को जानता है, जो सब धर्मों के जानने में पण्डित है, वह भी यदि 'अहं तत्त्व' अर्थात् अपने कर्तव्य को न जाने तो उसका जानना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार बिना कणों के तुषों को कूटना।

दीर्घ-जीवनतोऽपार्थात्सार्थमल्पं हि जीवनम्।
प्रशस्तं समुपादेयं, तत्र यत्नो विधीयताम् ॥१७॥

अधिक जीने से क्या हुआ? प्रशंसनीय बात तो यह है कि वह जीवन सार्थक भी हो। निरर्थक अधिक जीने की अपेक्षा सार्थक थोड़ा जीना कहीं अधिक श्रेष्ठ और उपादेय है। इस लिये जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। दीर्घ-

जीवन की भावना के साथ २ जीवन को सार्थक बनाने की भावना का न होना ही सबसे बड़ी मूर्खता है।

वर्तमाने प्रहृष्टो यः भविष्ये विगतस्पृहः ।
कानि दुःखानि नो भुङ्क्ते महामूढ़मतिर्नरः ॥१८॥

जो महामूर्ख मनुष्य केवल वर्तमान में ही संतुष्ट रहता है और भविष्य का विचार नहीं करता वह किन २ दुखों को प्राप्त नहीं होता। मनुष्य को वर्तमान अल्प जीवन की अपेक्षा भविष्य के अनन्त जीवन का अधिक विचार करना चाहिये।

अपास्यामृत-सत्स्रोतश्चिरानन्द-निकेतनम् ।
या गृह्णाति जनो लोके जलं कृमि-कुलाकुलम् ॥१९
स मूर्खो दुःखमाप्नोत्यवाप्नोति न तत्पदम् ।
यत्रानन्दो महान् ज्योतिर्निश्चलं राजते ध्रुवम् ॥२०॥

आत्मा अमृत का स्रोत है। विश्व के सब जड़ पदार्थ कृमि-कुल-व्याप्त जल के समान है। जो मूर्ख चिरानन्द के कारण स्वरूप आत्मामृत के श्रेष्ठ स्रोत को छोड़ कर वैषयिक सुख रूपी दुर्गन्ध और कीड़ों के कुल से व्याप्त जल के पीने की इच्छा करता है, वह दुःख पाता है और वह उस पद को कभी प्राप्त नहीं होता जहां महान आनन्द और निश्चल प्रकाश सदा विद्यमान रहता है।

विवेक-ज्योतिः

जयत्यशेषाहितनाशनेशम्,

ज्योतिर्विवेकाख्यमतीव रम्यम् ।

न यद्विना मुक्ति-पथः कदाचिद्,

दृग्गोचरः स्यान्महतोऽपि यत्नात् ॥१॥

सम्पूर्ण अमंगलों के नष्ट करने में समर्थ और अत्यन्त रमणीय उस विवेक-ज्योति की जय हो—जिसके बिना बहुत प्रयत्न करने पर भी मुक्ति मार्ग दिखाई नही देता।

यस्मात्पवित्रं न हि किञ्चिदस्ति,

लोकत्रयेऽपीति वदन्ति वेदाः ।

तदेव नित्यं समुपासनीय—

महोविवेकाख्यमहो महद्भिः ॥२॥

जिस विवेक ज्योति के लिये वेद कहते हैं कि तीनो लोको में भी इससे पवित्र अन्य वस्तु नही है । हे सज्जनो ! तुम सदा उसी विवेक-ज्योति की उपासना करो ।

सूर्य-प्रदीपाग्नि-शशांकतेजो,

यत्राक्षमं स्यात्तमसो विनाशे ।

एतत्तु तत्रापि समर्थमेव,

कुतस्तदेभिः खलु साम्यमस्य ॥३॥

सूर्य, दीपक अग्नि, और चन्द्रमा का प्रकाश भी जिस अज्ञानान्धकार को नष्ट करने में असमर्थ हैं उस अन्धकार को विवेक ज्योति समूल नष्ट कर डालती है। इस लिये सूर्य चन्द्रादि से इस विवेक ज्योति की तुलना कैसी? यह तेज सब से बढ़ कर है।

तेजोनिवेशाः किल लौकिका ये,

ते लौकिकं ध्वान्तमशेषयन्ति ।

अभ्यन्तरं यत्तिमिरं निहन्ति,

तज्ज्योतिरज्ञानहरं नमामः ॥४॥

इस संसार में जितने भी तेज-पिण्ड पदार्थ हैं वे सब इस जगत के बाहरी प्रतीयमान अन्धकार को ही नष्ट करते हैं किन्तु जो भीतरी अज्ञानान्धकार को भी नष्ट कर देती है वह अज्ञान-नाशक ज्योति ही सर्वोत्तम है। उसी को हम नमस्कार करते हैं।

यदन्धकाराख्यशिलां विशालां,

भिनत्ति सद्योऽवच्छिनत्ति पुंसाम् ।

पापान्यशेषाणि च्चणात्प्रयुक्तं,

तज्ज्योतिरस्माकमघानि हन्तु ॥५॥

जो विवेक ज्योति आत्मा में प्रकट होते ही अज्ञानान्धकार की विशाल शिला के टुकड़े २ कर डालती है और प्रयोक्ता पुरुषों के सम्पूर्ण दुष्कृत्यों को नष्ट कर देती है—वही ज्योति हमारे भी पापों को दूर करे।

यत्र प्ररूढाः किल रूढयः स्युः,

यन्मूढतानां विनिवासभूमिः ।

स बोधशत्रुर्ह्य विवेकशेषो,

व्यपैति शीघ्रं हि विवेक-तार्क्ष्यात् ॥६॥

जिस अविवेक के कारण रूढ़ियों की जड़ जमती है और जो मूढ़ताओं का अखण्ड अड्डा है, वह हिताहित के विचार का शत्रु अविवेक रूपी भयङ्कर महाविषधर शेष (सर्प) विवेक रूपी गरुड़ के दर्शनमात्र से शीघ्र ही भाग जाता है।

एनोविघाताय समीहमानो,

जनोस्ति कश्चिद्यदि, सोस्तु नित्यम्—

एतत् महद्रत्नसमर्जनाय,

समुद्यतो जीवन-तत्व-वेदी ॥७॥

यदि कोई मनुष्य अपने दुष्कृत्यों के फल से बचने की इच्छा करता है तो उसे हमेशा जीवनके तत्व को पहिचान कर इस विवेक-ज्योति रूपी अनुपम रत्न को उत्पन्न करने के लिये संलग्न होना चाहिए।

इतस्ततो भ्रान्तिमपास्य शीघ्रं,

भूत्वा समर्थः खलु सार्थमेनम् ।

शनैः शनैरर्जतु बोधभानु-

मंहोनिहन्तारममेयशक्तिम् ॥८॥

इधर-उधर व्यर्थ भटकना छोड़कर सार्थक नाम वाले इस ज्ञान रूपी सूर्य को धीरे धीरे जैसे बने वैसे प्राप्त करना चाहिए क्योंकि यह ज्ञान सूर्य पाप-विनाशक और अजेय सामर्थ्य वाला है।

यो ज्ञानसंचयमपास्य जनिं स्वकीयां,
व्यर्थं हि यापयति, तस्य न मंगलानि।
प्रादुर्भवन्ति विभवाः न च संपदोऽपि,
कश्चिद्यतस्तत उपास्यमिदं स्वमारः ॥९॥

जो मनुष्य ज्ञान का उपार्जन न कर अपने जीवन को व्यर्थ गंवाता है। उसके कभी अच्छे दिन नहीं आते - उसे कोई वैभव और सम्पत्ति नहीं मिलती। सार यह है कि ज्ञान के बिना किसी भी उत्तम वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। इस लिये अपने जीवन को सार-भूत इस दिव्य ज्योति को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

विपत्ति-वह्निः प्रलयं प्रयाति,
यत्र स्थिते शीतल-वारिणीव।
उदेति सद्भाग्य-तरुर्महिष्ठः,
स ज्ञानपाथोधिरुपासनीयः ॥१०॥

जिस प्रकार जल के पास अग्नि नहीं रह सकती उसी प्रकार विवेक-ज्योति के उदित हो जाने पर विपत्तियों का रहना

असम्भव है। अत उसी दिव्य-ज्ञान के भण्डार विवेक-ज्योति की उपासना करनी चाहिए क्योंकि इससे ही सद्भाग्य रूपी महान वृक्ष (कल्पवृक्ष) प्रकट होरहा है।

अर्थहीनं परं ज्ञानं, न सद्भिः समुपास्यते।
यत्तु सार्थकमेवास्ति, तद्विवेकः प्रचक्ष्यते ॥११॥

विद्वान लोग निरर्थक (किसी भी सत्प्रयोजन को सिद्ध न कर सकने वाले) कोरे ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते; किन्तु जो यथा नाम तथा गुण है—जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है उसे ही विवेक कहते हैं।

विवेकज्योतिषा ज्ञानं, न कदापि समं भवेत्।
यतोऽनयोर्महान्भेदः सत्यासत्यसुवर्णवत् ॥१२॥

विवेक ज्योति और ज्ञान ये दोनों कभी एक से नहीं हो सकते। क्योंकि इन दोनों में परस्पर बहुत अन्तर है—जैसे असली सोना और नकली सोना। अध्यात्म-ज्ञान, विवेक ज्योति कहलाता है और भौतिक वस्तुओं का ज्ञान कोरा ज्ञान है।

स धन्यो स महानात्मा, तेनाप्तं जन्मनः फलम्।
येनार्जितं महज्ज्योति-र्विज्ञानाख्यं मनोरमम् ॥१३॥

वही धन्य है, वही कृतकृत्य है, वही महापुरुष है और उसी ने मानव जीवन का फल प्राप्त किया है जिसने आनन्द-प्रद विज्ञान नाम वाली उत्कृष्ट ज्योति को पा लिया है।

यत्र प्रभूतं प्रसरत्यजस्र-

मिदं महज्ज्योतिरहस्करो वा।

न तत्र कश्चित्तमसो विलासो,

त्रासं विदध्यात् मनसो विकारो ॥१४॥

जहां यह दिव्य-प्रकाश सूर्य के समान उदित होकर व्याप्त हो जाता है, वहां मन को मलिन करने वाला तामसिक विलास या तम कभी नहीं आ सकता।

कलिर्यतः पादचतुष्टयेन,

पलायते जीवन-काङ्क्षणातः।

तज्ज्योतिरेकं न कथं नृलोके,

ग्राह्यं विपश्चिद्भिरघानि हन्तुम् ॥१५॥

जिस ज्योति के सामने आने पर कलिकाल डर कर अपना जीवन बचाने के लिए चारों पैरों से शीघ्र दौड़ जाता है—क्षण-मात्र भी सामने खड़ा रहने का साहस नहीं कर सकता—क्या उस दिव्य ज्योति को भी विद्वानों को न अपनाना चाहिए? अपितु शीघ्रातिशीघ्र उसे प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

शाम्यत्युदन्या न च वारिभिरेव,

पिपासितस्यात्मन उत्थितस्य।

यावन्न बोधाम्बु पिबेत्स धीरः,

ततो गृहीतुं खलु तद् यतेयम् ॥१६॥

उत्थान के लिये पिपासित किसी भी मनुष्य की तृपा केवल बातों से ही शांत नहीं हो सकती, जब तक कि वह विज्ञान रूपी जल का पान न करे। इस लिए बोध-जल प्राप्त करने के लिए उसे यथेष्ट उद्योग करना चाहिए।

यत्र पदार्थाः प्रतिविम्बिता स्यु-

राकारभिन्नाः गुणपर्ययाभ्याम्।

आदर्शवत्तस्य विशुद्ध-धारा-

माप्नोति यस्तस्य वचोऽस्ति तीर्थम् ॥१७॥

जिस ज्योति में गुण और पर्यायों से भिन्न २ स्वरूप वाले पदार्थ दर्पणके समान स्पष्ट रूपसे प्रतिविम्बित होते हैं उस विवेक ज्योति को प्राप्त करने वाले महात्मा के वचन ही तीर्थ कहलाते हैं।

विवेकरिक्तस्य तपस्यतोऽपि,

चिरं न किञ्चित्तपसः फलं स्यात्।

कुतः कणाप्तिः तुपखण्डनान्नुः,

ततः श्रमोऽयं सकलो सुधास्ति ॥१८॥

विवेक के बिना बहुत समय तक तपस्या करने पर भी कोई वास्तविक फल नहीं मिल सकता। क्या तुषों को कूटने से भी कभी कण मिलते हैं? इस लिये विवेक के बिना श्रम करना व्यर्थ है।

सम्पाद्य लोकाभ्युदयं महान्तं,

मनोरमां मुक्तिरमां करोति ।

मय्युत्सुकां यत्र कथन्नु वन्द्यं,

तज्ज्योतिरानन्दकरं जनानाम् ॥१९॥

बड़े २ लौकिक अभ्युदयों को सम्पादित करके, जो ज्योति चित्त को अनुपम शान्ति प्रदायक मुक्तिवधू को भी अपनी ओर उत्कंठित कर देती है वह उपमाहीन-आनन्द उत्पन्न करने वाली विवेक ज्योति क्या वन्दनीय नहीं है ? अपितु अवश्य है ।

यद्दुद्धरेच्छल्यमिव प्रबुद्धं,

क्षणाद् हृदोऽशेषमलप्रबाधम् ।

शोकं विषादं विपदं च हन्ति,

तच्चेतन-ज्योतिरहं स्मरामि ॥२०॥

जो ज्योति चुभे हुए कांटे के समान दुःख देने वाले हृदय के मल को तत्काल ही दूर कर देती है और जो शोक विषाद तथा विपत्तियों को नष्ट कर डालती है—उस चेतन ज्योति का मैं स्मरण करता हूं ।

यद्दोग्धि कामानखिलान्सदैव,

सर्वानपायान् किल यद्धुनोति ।

तनोति सत्यं वितनोति शान्तिं,

कस्तस्य शक्तो वदितुं गुणौघान् ॥२१॥

जो ज्योति सम्पूर्ण मनोरथों को एक ही साथ पूर्ण कर

देती है एवं साथ ही सब अनिष्टों को भी नष्ट कर डालती है तथा जो सत्य का प्रकाश करती है और शान्ति देती है—इस ज्योति के गुणों का पूरा वर्णन कौन कर सकता है ?

व्याधिर्न चाधिर्न जरा न मृत्युः,
न जन्म यत्रास्ति विशुद्धबोधे ।
तदेव लक्ष्मास्ति चिदात्मनोऽस्य,
भिदाऽथवा लक्षणलक्ष्ययोर्न ॥२२॥

जिस निर्मल ज्ञान में शारीरिक और मानसिक पीड़ाएं, बुढ़ापा, मृत्यु और जन्म कुछ भी सम्भव नहीं है वही चैतन्य ज्योति इस आत्मा का लक्ष्य है । अथवा अभेद विवक्षा में लक्ष्य और लक्षण में भेद न समझें तो इस उल्लिखित स्वरूप अर्थात् चैतन्य ज्योतिके सिवा आत्माका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है । चैतन्य ज्योति को छोड़ कर आत्मा अलग कोई वस्तु ही नहीं ।

इमं प्रकाशं न विहाय किञ्चि-
ज्जानीमहे स्थायि मनोरमं वा ।
ततो यतध्वं परमार्थमग्नाः,
इमं गृहीतुं मनसाऽचलेन ॥२३॥

भावार्थ—इस दिव्य प्रकाश को छोड़ कर हम किसी भी स्थायी एव मनोरम वस्तु को नहीं जानते । इस लिए परमार्थ में लगे हुए मनुष्यों को निश्चल मन होकर इसे ही पाने के लिए यत्न करना चाहिये ।

यत्कल्पनातीतमवाच्यमस्ति,

तन्निर्विकल्पं खलु कः क्षमेत, ।

सामस्त्यतो वक्तुमिमे जनास्तु,

तन्नाम-वाचा सफला भवन्ति ॥२४॥

भावार्थ—जिस विवेक ज्योति का स्वरूप कल्पनातीत, अवाच्य और निर्विकल्प है उसका वर्णन कौन कर सकता है। हमारे जैसे मनुष्य तो उस पवित्र ज्योति का नाम मात्र लेकर ही अपने को कृतकृत्य समझते है।

इच्छन्ति ये लौकिकमर्थमाप्तुम्,

ज्ञानाप्तये ते पशवो मनुष्याः ।

भस्मार्थमेते प्रदहन्ति वस्त्रम्,

सुदुर्लभं ते न च केन शोच्याः ॥२५॥

भावार्थ—जो मनुष्य केवल लौकिक कार्यों को सिद्ध करने के लिए ही ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे राख के लिए दुर्लभ वस्त्रों को जला देने वाले हैं। उनकी इस करतूत पर कौन ऐसा विद्वान है जो खेद प्रकट न करेगा।

उपासना तत्व

अपास्य पूजाभिनय विमानो,
भूत्वा विलोभो भगवत्समीपम् ।
प्रयाहि वाङ्मानसकायशुद्धो,
विशुद्धबुद्धिः समुपासकश्चेत् ॥१॥

अर्थ—हे मनुष्य ! अगर तू सच्चा उपासक बनना चाहता है तो पहले अपनी बुद्धि और मन को विशुद्ध बना और वाणी की विशुद्धता का भी बहुत अधिक ध्यान रख। भगवान के सामीप्य को प्राप्त करने के लिए मान और लोभ को भी तू छोड़ दे। लोगों में बड़ा बनने और अन्य सांसारिक स्वार्थों को प्राप्त करने के लिये तू पूजा का अभिनय (नाटक) मत कर।

लोकैषणाक्रान्तमना जनस्तु,
पाखण्डपूजां तन्वन्न किञ्चित् ।
फलं कदाचिल्लभते सपर्या-
यत्नं वितन्वन्नपि मूढ एषः ॥२॥

अर्थ—जिस मनुष्य का मन लोकैषणा अर्थात् लोकमें यश पाने की इच्छा से आक्रान्त है वह पूजा करता हुआ भी पूजा के वास्तविक फल को प्राप्त न होगा, क्योंकि इससे वह केवल अपनी कीर्ति चाहता है। ऐसे मनुष्य का उपासना के हेतु किया गया सारा प्रयत्न बिल्कुल व्यर्थ है। अतः कहना चाहिये कि वह मूढ़ अर्थात् हिताहित विवेकहीन है।

य: ख्यातिलाभादि-फलं विहेय-
मुद्दिश्य पूजां कुरुतेऽगतात्मा ।
भयङ्करो गोमुख-सिंह-वत्सः,
प्रतीतियोग्योऽस्ति जनेषु नैषः ॥३॥

भावार्थ—जो अपने आत्मा व पूजा के वास्तविक रहस्य को नहीं जानते वे केवल ख्याति लाभादि के लिए ही पूजा करते हैं। उनका अन्त:करण तो अपवित्र है पर दुनिया को दिखाने के लिए वे उपासना का ढोंग रचते हैं। ऐसे आदमी सचमुच ही जन समाज के विश्वास करने योग्य नहीं हैं। वे उस सिंह के समान है जो गोमुख हो, अर्थात् वस्तुत: सिंह होने पर भी लोगों को गऊ के समान मालूम हो रहा हो।

विकल्पसंकल्प-गणान्विहाय,
त्वं लौकिकानात्मनि संगतः स्याः ।
द्रव्यार्पणाज्जीवपरात्मनोर्न,
भेदोऽस्ति कश्चित् खलु तत्त्वमेतत् ॥४॥

भावार्थ—तुम सब संकल्प और विकल्पों को छोड़ दो, क्योंकि ये सब लौकिक हैं और आकुलता के कारण भी। संकल्प विकल्पों को छोड़े बिना आत्मा का संगम नहीं हो सकता है। सच बात तो यह है कि इन बाह्य भेदों ने ही जीवात्मा और परमात्मा मे भेद डाल रखा है। नहीं तो द्रव्य विवक्षा से तो संसारी आत्मा

और सिद्ध आत्मा में कोई भेद नहीं है। यह एक महत्व अर्थात् रहस्य है जिसको समझे बिना कोई भी मुक्ति नही पा सकता।

देवो मदीयो न परत्र किन्तु,
मदीयमूर्तौ विचकास्ति नित्यम्।
इदं रहस्यं यदि नैव बुद्ध—
मर्चा प्रयत्ने न तदा किमस्ति ॥५॥

भावार्थ—मेरा उपास्य देव कहीं और जगह नहीं है। वह मेरे ही भीतर है। मेरा शरीर तो केवल उसका मन्दिर है। जिसने इस रहस्य को नही जाना वह पूजा का प्रयत्न व्यर्थ क्यों करता है। पूजक के लिए पहले यह जानना नितान्त आवश्यक है कि उसका उपासनीय देवता उसके भीतर ही है।

विद्वेषरागाख्यमिदं महेन्धनम्,
पूजाहुताशे ननु चेन्न चाहुतम्।
कथं परात्मा खलु पूजितस्तदा,
रागादिनाशो हि मतं फलं यतः ॥६॥

भावार्थ—अगर पूजामय अग्नि मे किसी ने राग द्वेष नाम के महा इंधन को नही जलाया तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने परमात्मा को अच्छी तरह पूज लिया, क्योंकि भगवान की पूजा का फल तो रागादि का नाश ही है।

धनं न याचे न सुतं च याचे,

भार्या न याचे न च संपदोपि ।

याचेऽस्थिरा नाथ ! पदं स्थिरं तद्,

याचे वदेत् विश्वपितुः समक्षम् ॥७॥

भावार्थ -हमें पूजा के फल के लिए केवल उस स्थिर पद की याचना करनी चाहिए जो आत्मा की अन्तिम अवस्था है। पूजक को अपने देवता के समक्ष यह कहना चाहिए कि मुझे 'धन की चाह नहीं, सुत की चाह नहीं और न स्त्री तथा अन्य सम्पदाओं की ही चाह है। मैं केवल अपने आत्मिक स्थिर पद को चाहता हूं।

त्वं द्रव्य-दृष्ट्या न परोसि मत्तः,

पर्यायभेदोस्ति परं महान्मः ।

तमेव भेदं भगवन्विदग्धु—

मयं जनस्त्वां प्रति सन्नतोस्ति ॥८॥

भावार्थ—द्रव्य दृष्टि से भगवान तू मुझ से भिन्न नहीं है। तुझमें और मुझ में जो महान भेद है वह तो केवल पर्याय की अपेक्षा से है। तेरी पूजा केवल मैं उसी भेद को नष्ट कर देने के लिए करता हूं, क्योंकि उसी ने तेरे और मेरे बीच में भेद की दीवाल खड़ी कर रखी है।

शब्देन लभ्यो न च पौद्गलेन,

तथैव कायेन न चापि लभ्यः ।

त्वं भावतो लभ्य इति प्रसिद्धम्,
 ततोऽपि भावात्मक एव नाथः ॥९॥

भावार्थ—हे नाथ ! तुम्हें केवल वाणी और शरीर से प्राप्त नही किया जा सकता। तुम तो भावों से प्राप्त करने योग्य वस्तु हो। इस लिए तुम्हारे सम्बन्ध मे यह कहना बिल्कुल सगत है कि तुम भावात्मक हो। जो तुम्हें भावों से पूजता है उसे तुम अवश्य प्राप्त होते हो।

पिधाय कर्णावथ नेत्रयुग्मं,
 निर्माल्य संयम्य तनुं समग्राम्।
योगासनस्थोऽपि जनो न दंभी,
 त्वं प्राप्नुयादार्जव-मार्गलभ्यम् ।१०।

भावार्थ—अपने कानों को बन्द कर, आंखों को मूंद कर और सारे शरीर का संयमन कर योगासन पर बैठा हुआ भी पाखण्डी मनुष्य, भगवन् ! तुमको हरगिज नहीं पा सकता, क्योंकि तुम तो सीधे मार्ग से पाने योग्य वस्तु हो। जो लोग तुम्हें प्राप्त करने का पाखण्ड करते है, वे छली कपटी और दंभी है। ऐसे लोग तुमसे सदा ही दूर रहेंगे।

विनिद्रयन्नात्म--विवेक--पद्मं,
 त्वं निद्रयन्मोहमरातिमेन।
सुदुर्लभेस्मिन नर-जीवने द्राक्,
 संसाधय स्वात्महितं कथञ्चित् ।११।

भावार्थ—हे भव्य पुरुषो ! इस सुदुर्लभ मनुष्य जीवन में आत्मा के विवेक रूपी कमल को विकसित कर अर्थात् अपने हित और अहित को पहिचान तथा मोह रूपी शत्रु का नाश कर। जिस किसी तरह भी हो सके वैसे अपने आत्मा के हित को सिद्ध करो।

उपासकोपास्यफलार्चनानां,
तत्वं किमस्तीति विचिन्त्य पूर्वम्।
प्रारभ्यतामेष महान्सुयज्ञः,
न चेत्तदा व्यर्थमयं श्रमः स्यात्॥१२॥

भावार्थ—उपासना के पूर्व उपासक, उपास्य, फल और अर्चन इनके रहस्य का विचार कर लेना चाहिए अर्थात् मैं उपासना करने योग्य हूं या नहीं ? उपासक का कर्तव्य क्या है ? मेरा उपास्य कौन होना चाहिये ? मेरी इस उपासना का फल क्या होगा ? उपासना की विधि क्या होनी चाहिये और उपासना के लिए क्या २ सामग्री अपेक्षित है ? इत्यादि बातों के रहस्य को उपासना करने के पूर्व भली भांति समझ लेना चाहिये और उसके पीछे इस महान कार्य को प्रारम्भ करना चाहिए। यदि उपासना के पूर्व उपर्युक्त बातों पर ध्यान न दिया जायगा तो सब परिश्रम व्यर्थ होगा और फल कुछ भी न होगा।

स्वकर्मणः सृष्टिरथो विनाशो,
विधीयते भावनयैव नूनम्।

अतोहि बाह्यं निखिलं प्रपञ्चं,

विहाय सद्भावरतः सदा स्याः ।१३।

भावार्थ—यह निश्चित ही है कि इस जीव के कर्मों का बन्ध अथवा क्षय अपनी ही बुरी अथवा अच्छी भावनाओं से होता है। तात्पर्य यह है कि बुरे काम करके या करने का विचार करके अशुभ बन्ध भी मनुष्य अपनी भावनाओं से ही बांधता है और अनेक उत्तम कार्य करके अथवा उनके करने का विचार करके कर्मों का क्षय कर मुक्ति भी मनुष्य अपनी सद्भावनाओं के बल से ही प्राप्त करता है। इस लिए मुमुक्षुओं के लिए उचित है कि वे बाहिरी सम्पूर्ण प्रपञ्च से मोह हटाकर सदा सद्भावनाओं में ही लीन रहें।

परात्मजीवात्मसमैकबुद्ध्या,

प्रवाहिते स्वाम्भसि गाहमानः ।

स्थूलं रजस्सूक्ष्ममथ क्रमेण,

प्रक्षाल्य पूतो भवतात्सदा त्वम् ।१४।

भावार्थ—परमात्मा और जीवात्मा में साम्यभाव की बुद्धि से प्रवाहित हुए आत्मज्ञान के स्रोत में अवगाहन करता हुआ तू पहले स्थूल पापों को और फिर सूक्ष्म पापों को धोकर हमेशा पवित्र बनता रह।

त्वं कर्मतन्तुग्रथने विशालं,

कालं क्षिपन्नात्महितप्रमूढः ।

तत्त्वं न वेत्सीति महान् विमोहो,

विनाश्यतामेष विना विलम्बम् ।१५।

भावार्थ—आत्मा के सच्चे हित को न पहचानने वाले मूर्ख प्राणी ! तू ने कर्म के तन्तुओं के गूथने मे बहुत काल व्यतीत कर दिया और असलियत को नहीं पहचान पाया-यह बड़ा प्रमाद है। अब तू इस मोह को बिना विलम्ब किए छोड़ दे ।

वरिवस्यन् भगवन्तं, यो मुग्धो वष्टि लौकिकं स्वार्थम् ।

स तु सुधया स्वशरीरं, धावति नूनं जघन्यात्मा ।।१६।।

भावार्थ—जो मूर्ख प्राणी भगवान की उपासना करके किसी लौकिक स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है, समझना चाहिए वह अमृत जैसी चीज को शरीर धोने के काम मे व्यर्थ खो रहा है ।

लोकानुरञ्जनं शश्वद्, विहाय भव-भञ्जनम् ।

चिकीर्षुस्त्वं स्वकीयासौ, निर्मायो मौनवांश्चरेः ।।१७।।

भावार्थ—हमेशा के लिए लोगों को खुश करना छोड कर ससार परम्परा का नाश करने की इच्छा से तुम आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए माया छोड कर चुपचाप यत्न करते रहो ।

भेदद्वयं तावदिह प्रणीत-

मुपासनाया भगवद्भिरित्थम् ।

भावात्मिका द्रव्य-परा च किन्तु,

भावं विना द्रव्यफलं न किञ्चित् ॥१८॥

भावार्थ—आचार्यों ने उपासना के दो प्रकार बतलाए हैं। द्रव्य और भाव। किन्तु भाव के विना द्रव्य उपासना का कुछ फल नहीं होता इस लिए भावोपासक बनने का प्रयत्न करो।

जड-स्वरूपं किल वस्तु बाह्यं,
कथं ममालिङ्गतु बोधरूपम्।
आत्मानमित्थं प्रविचार्य भावान्,
पूतान् विदध्यान् मनसामलेन ॥१९॥

भावार्थ—बाहिरी वस्तुएं जडस्वरूप हैं, अचेतन हैं। ये कभी ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा से नहीं मिल सकतीं। इस प्रकार इनके वैषम्य का विचार करके शुद्धान्तःकरण से भावों को पवित्र बनाना चाहिए।

उपासना नैव कदाप्यपार्था,
मनस्कृता किन्तु पुनाति चेतः।
न चास्ति लोके किल वस्तु तादृग्,
उपासनातः खलु यन्न लभ्यम् ॥२०॥

भावार्थ—उपासना कभी व्यर्थ नहीं होती, अपितु सच्चे दिल से की जाने पर मन को पवित्र कर देती है। संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उपासना करने पर अपने आप न मिल जाय। पर वह उपासना हृदय से होनी चाहिए।

न चाकृतिर्नैव वयोर्चनीयम्,
न रूपधेयं न च नामधेयम्।
उपास्य तत्वं यदि किञ्चिदस्ति,
गुणात्मकं तत्किल सारभूतं ॥२१॥

उपासना तत्व को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आकृति, वय, रूप और नाम इनमें से कोई भी उपास्य नहीं है। यदि उपास्य नाम का कोई पदार्थ है तो वह गुणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है गुणपूजा ही वास्तविक उपासना है।

गुणानभिज्ञः खलु बाह्यरूप-
मुपासते मूढधियो न किन्तु।
जानन्ति तत्वं समुपासनायाः,
ततो भ्रमन्ति व्यसनार्णवेऽस्मिन् ॥२२॥

विवेकहीन मनुष्य केवल उपास्य के बाह्य रूप को पूज कर ही सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु वह उपासना का रहस्य क्या है? इस तत्व को नहीं जानता। इसी लिये उसको दुःखों के सागर में चिरकाल तक गोते लगाने पड़ते हैं।

द्रव्यं विधिः साधनमस्तु सर्वं,
पात्रं विना नैव तथापि किञ्चित्।
गुणान् हि पात्रं प्रवदन्ति सन्तः,
ततो गुणाः केवलमर्चनीयाः ॥२३॥

चाहे उपासना की विधि द्रव्य और अन्य साधन कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों, पात्र के बिना सब व्यर्थ हैं। उपासना के प्रकरण में गुणों को छोड़ कर और कोई पात्र नहीं है। इस लिए केवल गुणों की ही उपासना करनी चाहिए।

व्यक्ते महत्वं न हि किञ्चिदस्ति,
यदस्ति किञ्चिद् खलु तद्गुणानाम्।
संसारमुक्तिप्रभिदापि नूनं,
गुणैः कृता केवलमस्ति लोके ॥२४॥

महत्व के कारण गुण हैं। व्यक्ति का कोई महत्व नहीं। गुणों की महत्ता से ही व्यक्ति की महत्ता कही जाती है। संसार और मुक्ति का भेद भी केवल गुणकृत ही है।

शिवो विरञ्चिर्हरिरस्तु बुद्धो—
जिनोऽथवा कश्चन वान्यदेवः।
सर्वे शरण्या हि गुणाकराश्चेत्,
न नामभेदेन च वस्तुभेदः ॥२५॥

चाहे ब्रह्मा हो, चाहे विष्णु हो, चाहे शिव हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे जिन हो अथवा अन्य कोई देवता हो। यदि ये हमारे अभीष्ट गुण वाले हैं तो ये सब समान रूप से पूज्य हैं, क्योंकि केवल नामभेद से वस्तुभेद नहीं हो सकता।

स्थाने विविक्ते ह्युपविश्य दोषान्,
स्वीयान्समालोचयतु प्रकामम्।

गुणेप्सया दोषमपास्य पूजां-

कुर्यात् गुणानां मनसामलेन ।२६।

एकान्त अथवा पवित्र स्थान में बैठ कर अपने दोषों की अच्छी तरह समालोचना करो। वह इस लिए कि जिससे दोष दूर होकर गुणों की प्राप्ति हो जाय। बस यही निर्मल मन से गुणों की उपासना कहलाती है।

यन्निर्जिताक्षोऽधिगमाय मुक्तेः,

क्रीडन् स्वकीयात्मनि बाह्यमूढः ।

लोकोत्तरं सौख्यमवाप्स्यसि त्वं,

लोकेस्ति किं तस्य कुतोपि साम्यम् ।२७।

तू निर्वाण की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों के विषय में जाने वाली मन की प्रवृत्ति रोक कर बाह्य वस्तुओं से पराङ्मुख रह कर अपनी आत्मा में क्रीड़ा करता हुआ जिस निराकुल सुख को प्राप्त हो सकता है, क्या उस सुख की दुनियां में भी कोई समता है?

माऽस्थास्नु किञ्चित् खलु शंस लोके,

यत्स्थास्नु तस्याधिगमे प्रयत्नम् ।

कुरु स्वकर्तव्यविधौ सतर्कः

व्युत्सृज्य कर्माभिभवाय मोहम् ।२८।

तू इस दुनियां में किसी भी अस्थिर पदार्थ की प्रशंसा मत कर अथवा उसको मत चाह। आत्मा को छोड़ कर सब पदार्थ

अस्थिर है। इस लिये उस स्थिरात्मा की प्राप्ति के प्रयत्न में सतर्क होकर लग जा। तू कर्मों का तिरस्कार करने के लिए मोह को भी छोड़ दे।

सोऽहं समाख्याय मनोहराय,
सद्वस्तुने कामयते मनश्चेत्।
व्यामोहकूटं समपास्य तर्हि-
स्वस्मिन्सजन्नैव परं प्रपश्य ।२९।

'सोऽहं' तत्व से अधिक संसार मे कोई मनोहर और सद्वस्तु नही है। ऐसे 'सोऽहं' तत्व की प्राप्ति के लिये यदि तुम्हारा मन इच्छा करता है तो अज्ञान नामक झूठ को छोड़ कर अपने आप में लग जाओ और पर-पदार्थ की ओर कुछ भी ध्यान न दो।

अहं--ममाकारविकारजाता-
मभ्याज शीघ्रं ननु राक्षसीं त्वम्।
अशान्तिनाम्नीं जगति प्रसिद्धां,
न चान्यथा स्वात्महितं कथञ्चित् ।३०।

अहंकार और ममकार नामक विकार से पैदा होने वाली जगत्प्रसिद्ध अशांतिरूपी राक्षसी को तुम शीघ्रातिशीघ्र निवारण करो। इसके निवारण किए बिना किसी तरह आत्मा का हित नहीं हो सकता।

आत्माभिधानो द्युमणिः कषाय-
महीधरैरावृत—सर्वशक्तिः ।
अनादितोऽस्तीति विहन्तुमेतान्,
विवेक-वज्रं प्रगुणं कुरुष्व ।३१।

अनादिकाल से आत्मा नाम का सूर्य कषाय रूपी पहाड़ों में चारों ओर से ढका हुआ है। अतः इन पर्वतों को नष्ट करने के लिए अपने विवेक रूपी वज्र का प्रयोग करो।

उपासना जन्मफलं न शाखा,
उपासना जीवन-तत्वमस्ति ।
उपासना-हीन-नरः पशोश्च,
भेदो न कश्चिन् मुनिभिः प्रदिष्टः ।३२।

मनुष्योंके जीवनका फल उपासना है। उपासनाको जीवनकी शाखा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह तो उसी का फल है। उपासना जीवन का रहस्य है। ऋषियों ने उपासनाहीन मनुष्य और पशुओं में कोई भेद नहीं बतलाया। इस लिए जीवन को सफल बनाने के लिए उसे उपासनामय बनाने की चेष्टा करना चाहिए।

उपासना नैव विना विवेकम्,
विनाऽऽगमं नैव विवेकभानुः ।
ततो विवेकाय सदागमानाम्,
रहस्यलाभे सततोद्यमी स्याः ।३३।

विवेक अर्थात् विवेचनात्मक ज्ञान के बिना उपासना नही मिल सकती और विवेक बिना आगम के प्राप्त नहीं हो सकता। अतः विवेक को पाने के लिए सदा शास्त्रों के रहस्य को पाने का प्रयत्न करो।

स्वानुभवः

वस्तुतो न हि वक्तव्या स्वानुभूतिस्तथापि वाक्।
तां वक्तुमीहते चित्रमशक्ता भावबोधने। १॥

वास्तव में स्वानुभव वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता, वह अवक्तव्य है। फिर भी भाव-प्रकाशन में सर्वथा असमर्थ वाणी उसका वर्णन करने के लिए प्रयत्न करती है यह आश्चर्य है।

न गुणा न च पर्यायो न द्रव्यं शब्दगोचरः।
अनन्ता गुणपर्यायाः शब्दः संख्यातभेदकः॥२॥

शब्दों के द्वारा ठीक तरह से न गुणों का वर्णन किया जा सकता है, न पर्यायों का, न द्रव्य का; क्योंकि गुण पर्याय अनन्त हैं और शब्द के भेद संख्यात ही हैं।

नैव बाह्यानुभूतिश्चेद् यदा वाचा प्रकाश्यते।
पूर्णतः किं तदा स्वीयाऽनुभूतिः शक्यवर्णना॥३॥

जब बाह्य पदार्थों का अनुभव भी वाणी के द्वारा पूर्णरूप से प्रकट नहीं किया जा सकता, तब अभ्यन्तर आत्मा को अनुभव

तो शब्दों द्वारा कहने में आ ही कैसे सकता है। वह तो अवक्तव्य यानी वाणी का अविषय ही है।

शब्दाश्रयो न बोधो हि कदाचित् पूर्णतां भजेत्।
ततस्तस्याश्रयं त्यक्त्वा स्वाश्रये निरतो भव ॥४॥

शब्दाधीन ज्ञान कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। इस लिए अविकल ज्ञान प्राप्त करने के लिए शब्द के आश्रय को छोड़ कर आत्माधीन अनुभव मे लगना चाहिए।

येन स्वानुभवः प्राप्तो दुर्लभो भवमोचनः।
तेन भव्यात्मना किं न प्राप्तं सर्वार्थसाधनम् ॥५॥

जिसने संसार बन्धन को नष्ट करने वाले स्वानुभव को पा लिया उस भव्यात्मा ने समस्त मनोरथों को सिद्ध करने वाले किस पदार्थ को नही पाया।

विलीयन्ते हि दुःखानि यत्र प्राप्ते महौजसि।
दुर्लभोऽनुभवः केन स वन्द्यो नैव धीमता ॥६॥

जिस महान प्रकाश रूप स्वानुभव के प्राप्त होने पर समस्त दु ख विलीन हो जाते है, वह महा दुर्लभ स्वानुभव किस बुद्धि-मान के द्वारा वन्दनीय नहीं है ?

त्रैलोक्यस्यापि साम्राज्यं नानुभूत्या समं भवेत्।
स्वात्मोत्थया स्वानुभूत्या परोत्थं हि समं कुतः ॥७॥

तीनों लोकों का साम्राज्य भी स्वानुभूति की समता नहीं कर सकता। स्वानुभूति अपने आत्मा से पैदा होती है, पर-पदार्थों

से उत्पन्न होने वाले अनुभव के साथ उसकी समता कैसी ? पर-पदार्थों के आश्रित कोई अनुभव उसकी समता में नहीं टिक सकता, वह अनुपम है।

आनन्दामृतनिर्यासो निरुपाधिर्विवेकजः।

यत्र स्वानुभवस्तिष्ठेद् दुःखानां तत्र का कथा ॥८॥

आनन्दामृत के रस स्वरूप रागादि उपाधि रहित तथा विवेक से पैदा होने वाला स्वानुभव जिस आत्मा में रहता है वहां दुःख कैसे ठहर सकते हैं ?

मुक्तिर्दवीयसी येन पार्श्वगा भवति क्षणात्।

सोऽपि स्वानुभवो यैर्न प्राप्तस्ते ह्यविवेकिनः ॥६॥

अत्यन्त दूर रहने वाला भी निर्वाण पद जिससे क्षणभर में अत्यन्त समीप आ जाता है ऐसा महा-महनीय स्वानुभव जिन लोगों ने प्राप्त नहीं किया वे वास्तव मे महामूर्ख हैं।

अयमेव तपः श्रेष्ठं, ध्यातिश्चायं हि मोक्षदा।

स्वाध्यायोऽयं महद्वन्द्यः, अयं चोपासना परा ॥१०॥

यह (स्वाध्याय) ही श्रेष्ठ तप है, यही मोक्ष तक पहुंचाने वाला ध्यान है, यही महात्माओं द्वारा वन्दनीय स्वाध्याय है और यही सर्वोत्कृष्ट उपासना है।

मोहशार्दूलनाशाय स्वानुभूतिः परं बलं।

नर्तेऽस्यास्तत्वदर्शित्वं कैवल्यं लभते नरः ॥११॥

दर्शनमोह और चरित्रमोह रूपी शार्दूल को नष्ट करने के

लिये स्वानुभूति ही उत्कृष्ट बल है। इसके बिना न मनुष्य तत्त्व-दर्शी हो सकता है और न कैवल्य को प्राप्त कर सकता है।

परं मा किं स्वरूपास्तीति वक्तुं न किल क्षमाः।
विद्वांसोऽपि महाभागाः यतो वाचोऽक्षमाः स्वयम् ॥१२॥

यह सब कुछ होने पर भी इस स्वानुभूति का निश्चित स्वरूप क्या है—यह बड़े बड़े विद्वान भी शब्दों से नहीं समझा सकते। क्योंकि वाणी स्वयं इसके कहने में असमर्थ है और दूसरों को समझाना वाणी के द्वारा ही हो सकता है।

प्राप्योऽस्ति केवलं स्वानुभवो वाच्यो न शब्दतः।
ततस्तस्यावबोधार्थं नानुयोगः फलप्रदः ॥१३॥

स्वानुभव तो केवल प्राप्य वस्तु है। यह पहले ही कह चुके हैं कि वह शब्दों से नही कहा जा सकता। इस लिये उसे जानने के लिये केवल प्रश्न करने से कुछ लाभ नही, उसे पाने की चेष्टा करनी चाहिए।

अनुयोगपरास्तत्र न गन्तुं शक्नुवन्ति हि।
दृष्टि चारित्र-मोहं ये नाशयन्ति भजन्ति ते ॥१४॥

जो स्वानुभूति के सम्बन्ध मे सदा केवल प्रश्न ही प्रश्न किया करते हैं, मात्र अनेक प्रकार की शंकाएं ही छेड़ा करते हैं। वे उस तक नहीं पहुंच सकते। किन्तु जो लोग दर्शनमोह और चारित्रमोह को नाश कर डालते हैं वे ही उसे पाने के योग्य बनते हैं और पा लेते हैं।

द्वापरा यत्र नश्यन्ति स्वापराबुद्धिरुद्भवेत् ।
भीतीनां न भयं यत्र तदाप्तौ कुरुत श्रमम् ॥१५॥

जिसके प्राप्त हो जाने पर सब संशय नष्ट हो जाते हैं, आत्म-परक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है और किसी प्रकार के भय की सम्भावना नहीं रहती, उस स्वानुभूति के प्राप्त करने में परिश्रम करो।

न व्याकुलः स्वानुभवः कदाचित्,
परानुभूतिर्हि समाकुलास्ति ।
ततः परस्यानुभवं विहाय,
स्वस्यानुभूतौ भवतात् मयत्नः ॥१६॥

मब दुःखों की कारण आकुलताएं हैं और यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि जहां स्वानुभव होता है वहां आकुलताएं नही होतीं, परम सुख होता है। पर-पदार्थों का रागद्वेषात्मक अनुभव आकुलता को पैदा करता है उसमें महान दुःख है। इस लिये परानुभव को छोड़ कर स्वानुभव को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

संसारलक्ष्मास्ति परानुभूतिः,
स्वस्यानुभूतिर्हि विमोक्षलक्ष्म ।
मुमुक्षवोऽतः प्रविहाय कामा-
निमां श्रयन्तीह विमुक्तिहेतुम् ॥१७॥

पर पदार्थों का रागद्वेष विशिष्ट ज्ञान संसार का लक्षण है। आचार्यों ने पर में इष्ट और अनिष्ट कल्पना करने को ही संसार का बीज बताया है। जैसे यह परानुभूति संसार का लक्षण है, वैसे ही स्वानुभूति मोक्षका लक्षण है। क्योंकि स्वानुभूतिके साथ ही जीव का अनादि संसार मर्यादित हो जाता है और मोक्षमार्ग में प्रगति प्रारम्भ हो जाती है। इस लिये कर्म-बन्धन से छुटकारा चाहने वाले विद्वान समस्त इच्छाओं के कारण इस स्वानुभूति का आश्रय करते हैं।

यत् किञ्चिदन्वेषणयोग्यमस्ति,
तत्सर्वमेव त्वयि विद्यमानम्।
ततः किमुद्दिश्य पराभियोगे-
योगं ददामीति विचारय त्वम् ॥१८॥

जो कुछ खोजने योग्य वस्तु है वह सब तुम में ही मौजूद है। अपने में ही खोजो, वहीं मिल जायगी। उसे किसी अन्य जगह खोजने की आवश्यकता नहीं। फिर तुम व्यर्थ ही पर-पदार्थोंको प्राप्त करनेमें चित्त क्यों लगा रहे हो, उन्हें पकड़ने की कोशिश क्यों कर रहे हो? सोचो तो सही।

यदत्र किञ्चित् किल दुःखजात,
तत्सर्वमेवास्ति परप्रपञ्चात्।
परप्रपञ्चो जनकोऽस्ति लोके,
दुःखाशयानामिति सुप्रतीतं ॥१९॥

इस जगत में जो भी कुछ दुःख है वह पर-प्रपञ्च रूप परानुभूति से ही होता है। क्योंकि परानुभूति ही दुःख और (राग-द्वेष) की जननी है, यह बात प्रसिद्ध है।

विधाय मौनं मुनिवन्महार्घं,
पश्येरजस्रं निज-तत्वमेव ।
तदा स्वकीयानुभवाशयं त्व-
मवेष्यसि प्रोद्गतशुद्धबुद्धिः ॥२०॥

तुम मुनियों की तरह महामूल्य मौन को धारण कर निरन्तर निजतत्व-आत्मा के स्वरूप को ही देखो। तब तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हो जावेगी और तुम्हें अपने आप यह पता चल जावेगा कि 'स्वनुभव' का ठीक अर्थ क्या है।

सिता-स्वरूपं रसनाञ्चलेन,
विना न बुद्धं भवतीह शब्दात् ।
तथैव वाचा न विशालयाऽपि,
स्वात्मानुभूतिः प्रकटीकृता स्यात् ॥२१॥

आप दुनियां में देखते हैं-कि मिश्री का स्वरूप, मिश्री के मीठेपन का यथार्थ ज्ञान, स्वयं अपनी जीभ पर उसे चखने से ही होता है। उसके बारे में बहुत सी बातें सुन लेने पर भी केवल शब्दों से उसके मीठेपन का वास्तविक स्वरूप मालूम नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बहुत लम्बी चौड़ी बातें कहकर भी आत्मानुभूति का स्वरूप प्रकट नहीं किया जा सकता।

वदन्ति वेदाः खलु यत्कृतेऽत्र, न नेति शब्दं बहुशः समर्थाः
न तत्स्वतत्वं सरलैरुपायैर्विज्ञायते ज्ञैरपि मुक्तिहेतुः ।२२।

जिस आत्मानुभव के लिए समर्थ वेद (श्रुत स्कंध) भी यह कहते हैं कि उसे पाना आसान नहीं है—'वह नहीं जाना जा सकता, वह नहीं जाना जा सकता।' उस मुक्ति के कारण स्वतत्व को विद्वान भी सरल उपायों से नहीं जान सकते।

द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योऽयं हितार्थिना सम्यक्,
अनुसंधेयः सततं न चाऽन्यथा तस्य लाभः स्यात् ।२३।

अपना हित चाहने वाले मनुष्य को उस आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए, उसी की बात सुननी चाहिए, उसी का मनन करना चाहिए और उसी की खोजमें निरन्तर लगा रहना चाहिए। बस, यही उसकी प्राप्ति का उपाय है। अन्य किसी प्रकार से उसका लाभ नहीं हो सकता।

स्वभावतो ज्ञानमवाप्तुकामाः,
जना इमे सन्ति तथापि तेषां, ।
सामान्यबोधस्य न मूल्यमस्ति,
हिताहितप्राप्तिपराङ्मुखस्य ॥२४॥

यद्यपि मनुष्य स्वभाव से ही ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तथापि उसके सामान्य ज्ञान की क्या कीमत है, जिससे कि अपने हित और अहित का भान नहीं होता। ज्ञान का आदर और कुछ मूल्य तो तभी हो सकता है जब कि उससे हित और अहित का

भेद समझ मे आजाय । नहीं तो वह बिल्कुल निरुपयोगी है ।

वाचस्पतिश्चापि जनाभिगम्यः,
श्रेयः परं नो लभते कदापि ।
यद्यस्ति मज्ज्ञानपराङ्मुखश्चेत्,
ततः स्वकीयानुभवोऽर्चनीयः ।२५।

यदि कोई वाचस्पति-महाविद्वान महाव्याख्याता या साक्षात् बृहस्पति ही क्यों न हो, यदि वह सम्यग्ज्ञान से विमुख है, उसे आत्मा के हित-अहित का बोध नही हुआ है तो दुनियां मे चाहे उसकी कितनी ही पूजा हुआ करे, लोग उसकी कितनी ही प्रशसा क्यों न किया करे, पर श्रेय या वास्तविक कल्याण जो मोक्ष है सो उसे कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता । इस लिए अच्छी तरह समझ लो कि आत्मानुभव ही अर्चनीय अर्थात् पूज्य है ।

ये ज्ञानसंचयविधौ किल यापयन्ति,
कालं स्वकीयमखिलं, न च सारभूताम् ।
आत्मानुभूतिमविगीततमां लभन्ते,
तेषां जनिर्न सफलेति वदन्ति विज्ञाः ।२६।

यदि ज्ञान के साथ अनुभव न हो तो वह कोरा ज्ञान एक प्रकार से भार रूप ही है । जो लोग केवल ज्ञान सचय में ही अपना सारा समय व्यतीत कर देते हैं और सारभूत एवं परम प्रशसनीय आत्मानुभूति को प्राप्त नहीं करते उनका जीवन सफल नहीं होता ऐसा विद्वान कहते हैं ।

येनानुभूतं निजतत्त्वमात्मप्रकाशनेशं खलु तेन सर्वं-
विज्ञातमेवास्ति न येन बुद्धं निजात्मतत्त्वं न च तेन किञ्चित् ।

आत्म-स्वरूप को प्रकट करने मे समर्थ निज तत्व का जिसने अनुभव किया है उसने सब कुछ जान लिया। क्योंकि जानने योग्य को जानना ही सब कुछ जानना कहलाता है। और जिसने निजात्म तत्व को नही जाना उसने कुछ भी नही जाना।

बोधोऽपि भारात्मक एव तस्य,
न यस्य दृष्टिर्निजरूपदृष्टौ ।
ततोऽल्पकाले नरजीवनेऽस्मिन्,
निजस्वरूपाप्तिपरः प्रशस्यः ॥२८॥

जिस मनुष्य की दृष्टि निजरूप दर्शन की ओर नही है, आत्मानुभूति को पाने के लिए जो सचेष्ट नही होता, उसका ज्ञान एक प्रकार का भार ही है। इस लिये इस क्षणिक मनुष्य जीवन मे जो अपने आत्म स्वरूप को पाने में तत्पर होता है, वही प्रशंसा के योग्य है। केवल ज्ञानवाला नही।

यदस्ति किञ्चित्किल दुःखरूपं, तत्स्वानुभूतेर्हि सुखस्वरूपं
सुधोपमेयं भवतीह शीघ्रं लभ्या कथं सा न च दुःखभीतैः।

इस संसार में जो दुःख रूप है वह पदार्थ भी स्वानुभूति के प्राप्त हो जाने से सुख स्वरूप बन जाता है। यह स्वानुभूति अमृत के समान तृप्तिकारक और सुख देने वाली है। इस लिए जो दुःखों से डरते हैं वे इसे क्यों नहीं प्राप्त करते? उन्हें दुःखों

से छुटकारा पाने के लिए इसे अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए।

दोषान्वेषण

मान्वेषय त्वं परदूषणानि गुणार्जनाबद्धमतिः कदापि।
प्रख्यानमेतत् खललक्षणं यद्गुणान्विते वस्तुनि दोषदृष्टिः ॥१

यदि तुम गुण प्राप्त करना चाहते हो तो किसी के दूषणों को मत ढूंढो, अवगुणों की ओर दृष्टि मत डालो। ऐसा करने से ही तुम गुणों को प्राप्त कर सकोगे। गुण वाले पदार्थों मे अवगुणों, ऐबों या बुराइयों पर दृष्टि रखना दुर्जनता का प्रसिद्ध लक्षण है, ऐसे मनुष्य गुणों को कभी नही प्राप्त कर सकते।

ते पापिनो ये खलु दूषणानि, पश्यन्त्यभद्राशयतः परेषाम्।
तेषां न भद्रं भवतीह सत्यं परत्र वा चोदकराशयानाम् ॥२॥

वे लोग पापी हैं, दुष्ट हैं, जो बुरे अभिप्राय से, दूसरों का अहित करने की इच्छा से, दूसरों के अवगुणों को देखते हैं। ऐसे लोगोंका न इस लोकमें कल्याण हो सकता है और न परलोक में। क्योंकि उनकी इच्छा केवल दूसरों की त्रुटियां देखने और उन्हें नीचा दिखाने की होती है, दोषों को समझा कर प्रेमपूर्वक उन्हें दूर करा देने की सद्भावना उनमें नहीं होती। इस लिये दोष देखने के साथ बुरी भावना मनुष्य को दुष्ट या पापी बना देती है।

गृह्णाति यो दोषगणं विहाय,
गुणान्हितप्राप्ति-विवेकशून्यः।
स शूकरोऽस्य सुगन्धिवस्तु,
पुरीषपुञ्जं ह्युररीकरोति ॥३॥

जो अपने हित की प्राप्ति के ज्ञान से बिलकुल शून्य है, हित और अहित के विवेक को नही जानता और इसी लिये जो गुणो को छोड़ कर केवल दोषो को ही ग्रहण करता है वह मनुष्य सूअर के समान है। क्योंकि सूअर अच्छी गन्ध वाली वस्तु को छोड कर केवल विष्टाके समूहको ही ग्रहण करता है। तथा गुणों को छोड़ कर दोषों को ग्रहण करने वाले दुष्ट की प्रकृति भी ऐसी ही है।

गुणेप्सा यदि चित्तेऽस्ति, उन्निनीषु मनो यदि।
तां विमुञ्च तदा शीघ्रं दोषादानवतीं मतिम् ॥४॥

यदि किसी के मन में गुणो के प्राप्त करने की इच्छा है, यदि कोई अपना उत्थान करना चाहता है तो वह शीघ्र से शीघ्र अपनी दोष ग्रहण की बुद्धि को छोड दे। क्योंकि जिनकी बुद्धि पराये दोष ग्रहण का काम करती है उनका उत्थान होना अशक्य है। ऐसे विचारो से उनकी उन्नति के बजाय अवनति होती है, उनकी आत्मा का पतन होता है।

खलस्य घूकाच्च भिदास्ति काचित्,
यतो द्वयोरस्ति समानधर्मः।

घूकस्तमः पश्यति वासरेऽपि,

खलस्तु दोषान् गुणवृन्दमध्ये ॥५॥

दुर्जन और उल्लू मे कुछ भी भेद नहीं है। क्योंकि दोनों की प्रकृति एक सी है। उल्लू दिन के समय मे भी अन्धकार ही अन्धकार देखता है। दुर्जन भी गुणों के पुञ्ज मे भी दोषों के अतिरिक्त और कुछ नही देखता। इस तरह विधाता ने उल्लू और दुर्जन की प्रकृतिमे बहुत कुछ साम्य रख दिया है।

स्वर्गो न शस्यः खलसंगतिश्चे-

ल्लोकोत्तरानन्दविधानहेतुः।

विपत्तिवासो नरकोऽपि निन्द्यः,

प्रशस्यते सज्जनसङ्गतिश्चेत् ॥६॥

अगर दुर्जन का साथ है तो लोकोत्तर आनन्द देने वाला स्वर्ग भी वाञ्छनीय नहीं है। क्योंकि दुष्ट की संगति से स्वर्ग का आनन्द भी किरकिरा हो जाता है। और विपत्ति का केन्द्र एव निन्दनीय नरक भी उस समय प्रशंसनीय बन जाता है जब वहां सज्जन की संगति मिल जाती है। वास्तव मे सज्जन की संगति ही स्वर्गतुल्य और दुर्जन की संगति ही नरकतुल्य है।

दोषेषु यस्यास्ति मतिस्तु तस्य,

कुतो भवेन्मङ्गलमत्र लोके।

ये कामयन्तेऽत्र परत्र वापि,

सौख्य नरास्ते गुणदर्शिनः स्युः ॥७॥

जिस मनुष्य की बुद्धि केवल दोषों को ही ढूंढती है उस का इस ससार में कभी कल्याण नहीं हो सकता। जो मनुष्य इस लोक अथवा परलोक मे सुख पाना चाहता है उसे सदा गुण-दर्शी बनना चाहिए। क्योंकि गुणदर्शन की भावना ही मनुष्य को गुणी बनाती है और गुण प्राप्त होने से ही सुख मिलता है।

एकत्र सर्वे न गुणा न दोषाः,
दोषाः गुणाः सम्मिलिता वसन्ति।
समवायतोऽस्मात् खलु यो महात्मा,
गुणान् समाकर्षति सोऽस्ति धन्यः ॥८॥

एक जगह न सारे गुण ही रहते हैं और न सारे दोष ही। गुण और दोष सब जगह सम्मिलित हो कर ही रहते हैं। जो महापुरुष गुण और दोषों के समुदाय मे से गुणों गुणों को छांट कर अपना लेता है वही धन्य है।

तेनाप्यते नैव महत्पदं तत्, गुणेषु यो दोषचयं प्रपश्येत्।
ततो महत्ताप्तिपरेण शीघ्रं, त्याज्या हि कुबुद्धिरेषा ॥९॥

जो मनुष्य गुणों में दोष समूह को देखता है उसको कभी वह जगत् प्रसिद्ध महान पद प्राप्त नही हो सकता। इस लिये जो उस महत्ता को प्राप्त करना चाहता है उसे यह दोष-दर्शन की की कुबुद्धि अतिशीघ्र छोड़ देनी चाहिये।

दोषदृष्टेर्न भेदोऽस्ति मिथ्यादृष्टेस्तु कश्चन।
दोषदृष्टिस्ततो योग्यैः मिथ्यादृष्टिः प्रचच्यते ॥१०॥

दोषदृष्टि और मिथ्यादृष्टि में कोई भेद नहीं है । जो केवल दूसरों के दोष ही देखता है वह मिथ्यादृष्टि है । इसलिये परदोष-दर्शी दुर्जन को मिथ्यादृष्टि कहना ही अधिक संगत है ।

सम्यग्दर्शन-संयुक्तो गुणदृष्टिर्नरो भवेत् ।
ततः सज्जनताख्याता गुणदृष्टिर्महात्मभिः ॥१०॥

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित होता है वह अवश्य गुण-दृष्टि होता है । इस लिये महात्माओ ने सज्जनता का अर्थ गुणदृष्टि होना किया है ।

गुणान्वेषणबुद्धिस्तु गुणानां भूषणं भवेत् ।
एतां विना गुणप्राप्तिः व्यथाऽपार्था भवेत्सदा ॥१२

गुणों के अन्वेषण करने की बुद्धि गुणों का भूषण है । इस बुद्धि के बिना केवल गुणो का पाना असदर्थक है ।

लोकैषणा

लोकानुवृत्तये यस्य कार्याणीह भवन्ति नुः ।
स हि लोकैषणाक्रान्तो न श्रद्धेयः कदाचन ॥१॥

जिस पुरुष के कार्य केवल लोगों को खुश करने के लिये होते हैं वह लोकैषणा के वशीभूत है । ऐसा मनुष्य कभी विश्वास के योग्य नही है । 'लोकैषणा' शब्द का अर्थ 'सांसारिक कीर्ति की इच्छा' है ।

ते शोचनीयाः खलु यन्मनस्सु लोकैषणा नृत्यति राक्षसीव
न ते कदापि प्रतिपत्तियोग्या, विवेकशून्या जनभीरवश्च ॥२॥

जिन लोगों के हृदय में राक्षसी के समान लोकैषणा नृत्य करती रहती है वे वास्तव में बहुत ही शोचनीय हैं। ऐसे मनुष्य विवेकी नहीं होते—वे हमेशा लोकापवाद से भयभीत रहते हैं। इस लिये ऐसे मनुष्यों पर कभी भी श्रद्धान नहीं करना चाहिये।

सत्कर्म तेषां न फलं प्रसूते,
किञ्चित्कृतं चापि परिश्रमेण।
येषां मनः कर्णयुगं स्वशंसां,
श्रोतुं सदा व्यापृतमस्ति मूढम् ॥३॥

बहुत परिश्रम से किया हुआ भी उन लोगों का कोई काम सच्चे फल को उत्पन्न नहीं करता जिनका मूढ मन और कर्णयुगल सदा अपनी प्रशंसा सुनने के लिये ही उद्यत रहता है।

सामाजिके वाऽथ न धार्मिके वा,
क्षेत्रे नरास्ते सफला भवन्ति।
ये कीर्ति–कल्लोल–परम्परासु,
स्थितिं स्वकीयां किल कामयन्ते ॥४॥

जो लोग केवल यही चाहते हैं कि सारे संसार में सबसे अधिक कीर्ति उन्हें ही प्राप्त हो, वे न तो सामाजिक क्षेत्र में ही कोई सफलता प्राप्त कर सकते हैं और न धार्मिक क्षेत्र में ही;

क्योंकि कीर्ति चाहने की इच्छा उन्हें किसी भी तरह सफल नहीं होने देती।

ये कामयन्ते क्षणभंगुरायै,
कीर्त्यै स्थिराप्तौ न विवेकवन्तः।
व्यपोह्य मूलं खलु जीर्णपत्रं,
गृह्णन्ति ते मूढधियो द्रुमस्य ॥५॥

कीर्ति तो क्षणभंगुर वस्तु है। उसमे आत्मीयता की बुद्धि अविवेक है। जो स्थिर वस्तु की प्राप्ति की ओर कुछ भी लक्ष्य न रखते हुये इस अनित्य कीर्ति को चाहते हैं वे उस मनुष्य के समान हैं जो अपनी मूर्खता-वश वृक्ष के मूल की तरफ कोई ध्यान नहीं देता हुआ केवल उसके जीर्ण-शीर्ण पत्तों की तरफ लक्ष्य देता है। कीर्ति की चाह भी वास्तव मे ऐसी ही मूर्खता है।

इयं पिशाची हि विमुञ्चति द्राक्,
न योगिनः कान्य-जनस्य वार्ता।
विमुक्त-संगस्य तपस्विनोऽपि,
चित्ते सदा नृत्यति नग्नरूपा ॥६॥

यह लोकैषणा रूपी राक्षसी और लोगों की क्या बात, योगीश्वरों को भी शीघ्र नहीं छोड़ती। जिनने सब परिग्रह छोड़ दिया है ऐसे महातपस्वियो के चित्त मे भी यह नग्न होकर सदा नृत्य करती रहती है।

न तस्य योगः सफलो यतेः स्यात्,
तपः समाधिर्न च किञ्चिदन्यत् ।
यस्यात्मनीयं किल सर्पिणीव,
नित्यं समाक्रामति सत्स्वभावम् ॥७॥

उस मुनि का योग, तप, समाधि अथवा अन्य कोई भी अनुष्ठान सफल नहीं हो सकता जिसकी आत्मा मे लोकैषणा सर्पिणी के समान निज भावों पर हमेशा आक्रमण करती रहती है ।

लोकैषणा यत्र जितास्ति तत्र,
सर्वं जितं पापमवेहि नूनम् ।
इयं स्थितोत्पादयति प्रकामं,
पापान्यशेषाणि जनस्य यस्मात् ।८॥

जिस मनुष्य ने लोकैषणा को जीत लिया है उसने सारी बुराइयों को जीत लिया है; क्योंकि मनुष्य के हृदय मे स्थित हो कर यह लोकैषणा सब बुराइयों को पैदा कर देती है ।

पुत्रार्थ-लोकादि-समेषणासु,
नूनं हि सर्वोपरि तिष्ठतीयम् ।
द्वयोर्विनाशेपि लयो न चास्याः,
अस्या विनाशे तु तयोर्न सत्वम् ॥९॥

विद्वानों ने एषणाएं तीन प्रकार मानी हैं लोकैषणा, पुत्रैषणा और धनैषणा। इन तीनों एषणाओं में लोकैषणा का छूटना सब से कठिन है। धनैषणा और पुत्रैषणा नष्ट हो जाने पर भी लोकैषणा नष्ट नहीं होती। यदि यह लोकैषणा ही किसी तरह नष्ट हो जाय तो धनैषणा और पुत्रैषणा की तो अलग कोई सत्ता ही नहीं रहती।

इयं स्वकीर्ति-श्रवणार्थिनो यान्,
महापराधान्जनयत्यजस्रं।
तेषां हि लोके गणना न काचित्,
प्रभूतदुःखाम्रकारणानाम् ॥१०॥

यह लोकैषणा अपनी कीर्ति चाहने वालों से जिन महा-अपराधों को करवाती है वे लोगों के लिए महा-दुःख के कारण हैं और वे इतने हैं कि उनकी कोई गणना नहीं की जा सकती।

जीवेत्पिशाची न च रूढिरेषा,
लोकैषणा नश्यति चेज्जनस्य।
रूढेर्लयात्पूर्वमतो लयोऽस्याः,
कार्योऽन्यथा नैव फलाप्तिरस्ति ॥११॥

यदि लोगों के हृदय में से लोकैषणा नष्ट हो जाय तो यह पिशाचिनी के समान रूढि कभी जीवित नहीं रह सकती। इस लिए रूढि के नाश के पहले लोकैषणा का नाश करना चाहिए,

नहीं तो रूढियों को नष्ट करने के लिए किया गया प्रयत्न निष्फल होगा।

यथा यथाऽयं मनुजः प्रयाति,
तथा तथा नश्यति नूनमेषा।
समुन्नतिं नैव गतोऽस्ति कश्चित्,
नाशं विनाऽस्याः इति सुप्रतीतम् ॥१२॥

जैसे जैसे यह मनुष्य आगे बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसकी लोकैषणा की भावना भी नष्ट होती रहती है। यह सुप्रसिद्ध बात है कि लोकैषणा के नाश के बिना कोई भी उन्नति को प्राप्त नहीं हुआ।

समाजदेशावनतिस्तदा स्याद्,
यदानयोर्नेतृ-मनांसि चैषा
आक्रम्य कुर्यादबलानि तानि,
तदा सदेच्छन्ति निजप्रशंसाम् ॥१३॥

उस समय देश और समाज की अवनति होती है जब कि इनके नेताओं के मन पर आक्रमण कर यह लोकैषणा उन्हें निर्बल बना देती है; क्योंकि वे निर्बल होकर सदा अपनी प्रशंसा चाहते हैं।

यदुद्देश्यं हि सर्वेषां, चिन्तावर्जनमस्ति सः।
निष्फलो वै जनक्रान्तो, केवलं भ्रमतीह ना ॥१४॥

जिसका उद्देश्य केवल लोगों के चित्त को प्रसन्न करना ही है वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता : वह तो विफल हो कर जनसमुदाय के बीच इधर-उधर यों ही भ्रमण करता रहता है।

यै लोकैषणा त्यक्ता स्वकर्तव्यपरैर्नरैः।
तैस्त्यक्तं सर्वमाहेयं हीयं हेयतमा मता ॥१५॥

जिन लोगों ने लोकैषणा को छोड़ दिया उन लोगों ने छोडने योग्य सब कुछ छोड़ दिया, क्योंकि समस्त हेय पदार्थों में सबसे अधिक हेय यही है।

मृत्यु-चिन्ता

नैतादृक् संसृतौ किञ्चित्, विद्यते यद्धि मृत्युवत्।
निश्चितं चानिवार्यं च, तन्मा भैषीरतोऽसुभृत् ॥१॥

हे मनुष्य! इस संसार मे ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मृत्यु के समान निश्चित और अनिवार्य हो। इस लिए ऐसी अनिवार्य और निश्चित मृत्यु से तुम कभी मत डरो बल्कि सदा उसके स्वागत के लिए तैयार रहो।

जन्ममृत्यो हि सम्बन्धोऽविनाभावेन निश्चितः।
ज्यात्यभावेन मृत्युर्न तस्माज्जन्मजयी भव ॥२॥

हे मनुष्य! जन्म और मृत्यु इन दोनों का सम्बन्ध अविनाभाव रूप से निश्चित है। यदि जन्म है तो मृत्यु भी अवश्य है। और यदि जन्म नहीं है तो मृत्यु भी नहीं है। इस लिए यदि मृत्यु से डरते हो तो जन्म के नाश के लिये प्रयत्न करो नहीं तो मृत्यु से डरना व्यर्थ है।

छायासमानं किल जीवनं नः,
स्थित्वा क्षणं नश्यति शीघ्रमेव।
अतोऽस्थिराल्लाभमवाप्तुकाम-
स्त्वं मृत्युचिन्ताग्रमितो भवेर्न ॥३॥

हम लोगों का जीवन छाया के समान क्षणभर ठहर कर फिर शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है। इस लिये हे मनुष्य! यदि तू इस अस्थिर जीवन से लाभ उठाने की इच्छा रखता है तो कभी भी मृत्यु की चिन्ता से आक्रान्त मत हो क्योंकि यह मृत्यु की चिन्ता तेरे जीवन के वास्तविक आनन्द को नष्ट कर देगी।

उत्थाप्य चित्तं जगतो व्यपार्थात्,
संयोजयेस्तत्र परात्मनीदम्।
न यत्र मृत्योर्भयमस्ति किञ्चित्,
परं पदं यन्मुनयो वदन्ति ॥४॥

यह जगत बिलकुल निष्प्रयोजन है; क्योंकि आत्मा का इस से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ऐसे जगत से अपने चित्त को हटा कर तू पर-ब्रह्म में लगा—जहां मृत्यु का कुछ भी

भय नहीं है और मुनि लोग जिसको मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट स्थान बतलाते हैं।

त्वदीय उच्छ्वासविधिः समस्तः,
त्वत्प्रार्थनं ध्यानमथ स्तवश्च ।
सम्प्रेरिताः स्यु र्भगवत्समीपे,
यदि त्वदिच्छा यमनाशनेऽस्ति ।।५।।

हे मनुष्य ! यदि तू इस मृत्यु पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो अपनी समस्त उच्छ्वास-विधि, सारी प्रार्थनाएं और सारे स्तवन परमेश्वर के पास भेज दे। इसके अतिरिक्त मृत्यु से विजय पाने का और कोई तरीका नहीं है।

अभ्यागतं पान्थमथात्र लोके,
स्वकीयमात्मानमवेहि धीमन् ।
न ह्यत्र किञ्चित्तव चास्ति भ्रातः,
अत्रानुरागो न ततोऽस्ति शम्यः ।।६।।

हे विवेकी प्राणी ! तू अपने आपको इस लोक का अभ्यागत अथवा राहगीर समझ। तेरा यहां कुछ नहीं है। जैसे खाली हाथ आते हो वैसे ही चले जाते हो। इस लिए इस लोक की किसी भी वस्तु में प्रेमासक्त होना तुम्हारे लिए अच्छा नहीं।

लोकस्य पान्थोऽसि सदातनस्त्व-,
मागत्य गत्वा विनिवर्तमानः ।

विनश्वरं देहमिमं विमुञ्चन्,

चिन्तातुरो नैव भवेः कदापि ॥७॥

हे आत्मन! तू इस लोक का अनादि काल का पथिक है। आकर चला जाता है। जिस शरीर मे तू आता है वह बिलकुल विनश्वर है इस लिये इसको छोड़ते हुए तू कभी चिन्ता-तुर मत हो।

महात्मभिर्मोहविमुक्तचित्तै-

र्वसन्नदाभ्यस्तविवेकतत्वः।

कदापि चिन्तां न यमस्य कुर्याः,

तमागतं वीक्ष्य न चाकुलः स्याः ॥८॥

जिनके चित्त से मोह नाम का अन्धकार दूर हो गया है ऐसे महात्माओं के साथ रह कर हे आत्मन! तू विवेक तत्व का अभ्यास कर और कभी भी मृत्यु की चिन्ता मत कर और न कभी उसको आते हुए देख कर व्याकुल हो।

न तं नरं त्रासयतीह मृत्यु-

र्यस्यास्ति चित्तं विमलं त्वघेभ्यः।

अतो यमक्षोभ-निवारणार्थं,

चेतस्त्वदीयं विमलीकुरुष्व ॥९॥

उस मनुष्यको मृत्यु कभी भयभीत नहीं कर सकती जिसका चित्त वासनाओं और पापों से विमुक्त एवं निर्मल है। इस लिये

हे मनुष्य! तू मृत्यु के भय का निवारण करने के लिये अपने चित्त को पवित्र बना।

इदं महद्दुःखमयं नरो यदसावधानो भ्रमतीह लोके।
यो वर्तमाने परितोषमेति भविष्यमूढः स बिभेति मृत्योः॥१०

यह बड़े भारी दुःख की बात है कि इस दुनियां मे यह मनुष्य असावधान होकर इधर उधर भ्रमण करता रहता है और मृत्यु का विचार कुछ भी नहीं करता। जो मनुष्य वर्तमान मे ही सन्तोष को प्राप्त हो कर भविष्य मूढ़ बना रहता है वह मृत्यु से डरता है।

मृत्योः पलायनात् श्रेष्ठमेनसो द्रवणं नरः।
पापाभावे यमाक्रान्ति दुःखदा नैव जातुचित्॥११॥

मृत्यु से भयभीत होकर भागने की अपेक्षा पापो से डर डर कर भाग जाना कही अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि पापो के अभाव में मृत्यु का आक्रमण भी मनुष्य के लिए दुःखप्रद नही।

यमस्य स्वागतार्थं चेन्नैव सज्जोऽसि साम्प्रतम्।
तदा कथं भविष्येऽपि त्वं सज्जीभवितुं क्षमः॥१२॥

यदि हे मनुष्य! तू इस समय मृत्यु के स्वागत के लिए तैयार नहीं है तो फिर भविष्य मे भी तैयार होने के लिये तू कैसे समर्थ हो सकेगा। अतः अभी से इसकी तैयारी करने का प्रयत्न कर।

पावनाज्जीवनात्स्वल्पादपूतं दीर्घजीवनम्।
प्रशस्यं न ततो व्यर्था चिन्ता दीर्घेऽस्ति जीवने॥१३

अल्प पवित्र जीवन की अपेक्षा दीर्घ पापमय जीवन कभी श्रेष्ठ नहीं है इस लिए पवित्र जीवन का विचार छोड़ कर दीर्घ जीवन की चिन्ता करना बिलकुल व्यर्थ है।

व्यर्था हि मृत्यतो भीतिर्भीतं नायं निमुञ्चति।

निर्भय वीरमात्मानमयं नैवाभिगच्छति ॥१४॥

मृत्यु से डरना बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि वह डरने वाले को नहीं छोड़ती; पर जो निर्भय है एवं जिसने कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली है उसके पास मृत्यु कभी नहीं आती।

कर्म-विवेक

क्रियैव कर्माभिहितं महात्मभिः,

प्रवर्तनं तत्र विवेकतो हि यत्।

क्रियाविवेकः स समुच्यतेऽनघः,

हिताहितप्राप्ति विचारदक्षता ॥१॥

विद्वानों ने कर्म का अर्थ 'क्रिया' भी बतलाया है। इस (कर्म-विवेक) प्रकरण में भी 'कर्म' का अर्थ 'क्रिया' ही बतलाया है। विवेक से किसी काम को करना ही 'कर्म-विवेक' अथवा 'क्रिया-विवेक' कहलाता है। यह क्रिया-विवेक समस्त दोषों को दूर करने वाला है। हित कौन है और अहित कौन ? इस बात के विचार में जो समर्थ है वही मनुष्य 'क्रिया-विवेकी' है।

शरीर-चेतो-वचनानि येषां,
मुधा प्रयुक्तानि भवन्ति तेषाम् ।
क्रियाऽविवेकात् विफलः प्रयत्नः,
ततो विवेकः समुपासनीयः ॥२॥

जिन मनुष्यों के शरीर, वचन और मन व्यर्थ प्रयुक्त होते हैं अर्थात् जो अनावश्यक प्रलाप करते है, अनावश्यक मन की कल्पनाएं करते हैं और अनावश्यक ही शारीरिक क्रियाएं करते हैं उन सब का प्रयत्न बिलकुल व्यर्थ है; क्योंकि वे कोई भी काम क्रिया के विवेक से नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि हम जो शरीर वचन और मन का प्रयोग कर रहे हैं वह आवश्यक है या अनावश्यक।

शब्दाः शरीरं च मनः सदैव,
योज्या हि पूर्वं प्रविचिन्त्य सुष्ठु ।
इमे प्रयुक्तास्तु विचारतो न,
दुःखं प्रयच्छन्ति जनाय नूनम् ॥३॥

मन, शरीर और शब्द इन तीनों को हमेशा पहले अच्छी तरह विचार कर के ही प्रयोग करना चाहिए। यह निश्चित है कि अगर इन तीनों का विवेक से उपयोग किया जाय तो यह मनुष्य कभी दुःख नहीं पा सकता।

विवेकिनो मार्गयतो गुणौघ-
मायान्ति दोषा न कदापि पार्श्वे ।

ते दुःखिनो ये न विचारपूर्वं,
कुर्वन्ति कार्यं मनसा चलेन ॥४॥

जो गुणों की खोज लगाने वाला विवेकी है उसके पास दोष कभी भी आने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि विवेकी के पास आने से दोष सदा डरते रहते है। जो निश्चल मन से विवेक पूर्वक कार्य नही करते वे हमेशा दुःख ही उठाते हैं।

शब्दान्समाकर्ण्य परस्य शीघ्रं,
स्वीयान्विचारान्परिवर्तयेन्न।
विवेकतः किन्तु परस्य युक्तीः,
विचार्य पश्चादुररीकुरुष्व ॥५॥

दूसरों के शब्दों को सुन कर तुम जल्दी ही अपने विचारों को मत पलट दो किन्तु दूसरे की युक्तियों को विवेक से विचार कर फिर उन्हें ग्रहण करना चाहिए।

प्रशांतचित्तेन विचिन्त्य पूर्वं,
क्रियेत कार्यं यदि, नास्य पुंसः।
कदापि दुःखं भवतीह लोके,
विवेकिनः कर्मठमानसस्य। ६॥

यदि यह मनुष्य प्रशांत चित्त से सोच कर किसी कार्य को करे तो इसे कभी दुःख न उठाना पड़े; क्योंकि कर्मवीर कर्मठ मन-वाले विवेकियों से दुःख बहुत दूर रहता है।

क्षणे क्षणे यः परिवृत्तमेति,
विचारक्षेत्रे स नरो न नूनम् ।
समुन्नतः स्यादिति निश्चयो मे,
ततो विचारेषु विनिश्चितः स्याः ॥७॥

जो आदमी क्षण क्षण मे अपने विचारों को बदलता है और किसी भी विचार पर कायम नहीं रहता वह कभी भी समुन्नत नहीं हो सकता। यह एक निश्चित बात है। इस लिये विचारों के सम्बन्ध में अवश्य ही निश्चित होकर मनुष्य को आगे बढ़ना चाहिये।

नानाविधाः सन्ति जनाः जगत्यां,
सर्वे न ते विश्वसनीयवाचः ।
तत्प्रेरणा नैव कदापि सत्या-
ऽखिला विवेकस्तत एव पूज्यः ॥७॥

इस जगत में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं—वे सब ही विश्वास करने के योग्य नहीं हैं। उनकी सारी प्रेरणा भी सत्य नहीं होती। इस लिये उनका कौनसा वचन और कौनसी प्रेरणा सच है इस बात को जानने के लिये विवेक ही एक मात्र आधार है और वही पूज्य है।

क्रियाविवेकी न दुराग्रही स्यात्-
सदाग्रहो जीवति तत्र दीर्घम् ।

विभूतिसिद्धं प्रमुखं समस्तं,

श्रेयः समुल्लासमुपैति तस्मात् ॥६॥

जो कर्म-विवेकी होता है वह कभी दुराग्रही नहीं होता। जब वह समझ लेता है कि मेरा मन्तव्य ठीक नहीं है तो वह उसे छोड देता है किन्तु वह सदाग्रही अवश्य होता है। जब वह यह निश्चय कर लेता है कि उसकी मानी हुई बात बिलकुल ठीक और युक्तिसिद्ध है तो वह उसे कभी नहीं छोड़ता। क्रिया-विवेक से ही विभूति सिद्धि आदि समस्त श्रेय परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं।

हिताहितज्ञान मये प्रदीपे,

समीक्ष्य पश्चाद्धि गृहाण मुञ्च।

न चान्यथाऽभीप्सित-वस्तुसिद्धिः,

क्रियाविवेकस्ततः एव पूज्यः ॥१०॥

हित और अहित को ज्ञानमय प्रदीप से देखने के पश्चात् ग्रहण कर और छोड़। नहीं तो तेरे मनोरथ की सिद्धि कभी नहीं होगी। कर्म-विवेक के बिना किसी भी तरह की सिद्धि नहीं हो सकती। इस लिए कर्म-विवेक ही संसार में पूज्य है।

अस्माभिरेतत् श्रुतमेव सत्यं,

न तत् श्रुतं सुनृतमस्ति नूनम्।

इति प्रतीतिं न विनश्वरां त्वं,

कदापि कुर्याः प्रमितिं विनात्र ॥११॥

'हमने ऐसा सुना है और वह सच है। उसका सुना हुआ सच नहीं है'-इस प्रकार की बातें तुम बिना किसी प्रमाण के कभी मत कहो। किसी ऐसी घटना पर कभी विश्वास मत करो जिसका समर्थन करने के लिए तुम्हारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

विश्वासमायान्ति विवेकवन्तो,
जनास्तु शीघ्रं न परस्य वाचि।
परीक्ष्य निर्णीतिमवाप्नुवन्ति
यतो जगद् वंचकवत्समस्ति ॥१२॥

विवेकी मनुष्य शीघ्र ही दूसरे के वचनों मे विश्वास नहीं कर लेते, बल्कि परीक्षा कर उन्हें स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे यह समझते है कि यह जगत ठगों से भरा हुआ है। इस लिए हर किसी की बात पर विश्वास करना ठीक नहीं।

आचारवद्भिर्मतिमद्भिरेव त्वं सम्मतिं प्राप्य दुरूहमार्गे।
गच्छ प्रमादं न कदापि कुर्याः यदि त्वदिच्छा सुफलाप्तयेऽस्ति

तुम कठिन अवसर पर सच्चरित्र और बुद्धिमान् मनुष्यों की सम्मति प्राप्त कर आगे बढ़ो। ऐसा करने में कभी प्रमाद मत करो यदि तुम चाहते हो कि तुम्हें सफलता की प्राप्ति हो।

विनम्रता सत्यमपेक्षणीया इमां विना नैव गुणग्रहः स्यात्।
गुणग्रहोऽयं मनुजस्य जन्म करोति सज्ज्ञानविशेषशोभम्।

कर्म विवेक के प्रकरण में यह बात कहना भी आवश्यक है कि विनम्रता भी वास्तव में अपेक्षणीय वस्तु है, क्योंकि इसके

बिना गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती और गुणों की प्राप्ति ही मनुष्य के जन्म को श्रेष्ठ ज्ञान से अलंकृत करती है।

अपक्वबुद्धौ तव निश्चयोऽपि,
अनर्थमुत्पादयतीह सत्यम्।
इत्थं विनिश्चत्य सुपक्वबुद्धेः,
गृहाण शिक्षां हि समादरेण ॥१५॥

जब तक तुम्हारी बुद्धि अपक्व है तब तक तुम्हारा निश्चय अनर्थों को भी उत्पन्न कर सकता है—यह बात सच है। इस लिये तुम्हें आवश्यकतानुसार किसी परिपक्व बुद्धि वाले मनुष्य की शिक्षा को अत्यन्त आदर के साथ ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञान-लिप्सा

यज्ज्ञानलिप्सा हि जनस्वभावो-
ज्ञानं न तत्किन्तु सदर्थमस्ति।
यत्राशुभान्नैव भयं न शीलं,
दया न भक्तिर्न च मार्दवं वा ॥१॥

ज्ञान मनुष्य का स्वभाव है। सदा ही उसके प्राप्त करने की इच्छा उसके बनी रहती है। किन्तु उस ज्ञान से कोई लाभ नहीं है जो अशुभ से भय पैदा नहीं करता और उससे हटाकर शुभ

की ओर नहीं ले जाता तथा जो मनुष्य मे शील, दया, भक्ति और मृदुता को पैदा नही करता।

ज्ञानेन किं स्याद् यदि नैव सत्यं,
प्राप्तं तदीशप्रतिपत्तिहेतुः ।
भारस्वरूपं प्रवरा वदन्ति-
ष्ट्यात्मतत्वलाभेन विना सुबोधम् ॥२॥

अरे! उस ज्ञान से क्या लाभ है जिससे हमने उस सत्य को नही पाया जो हमे उस ईश्वर की ओर ले जाने वाला हेतु है। ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है जब तक कि उसके द्वारा सत्य प्राप्त न कर लिया जाय। आत्मतत्व की प्राप्ति के बिना विद्वान लोग ज्ञान को भी भार स्वरूप ही बतलाते हैं।

न ज्ञानसंचयः श्रेयान्सत्यतत्वाप्तितस्ततः।
विधाय प्राक्तन गौणं प्रधानां कुरुतां पराम् ॥३॥

हे मनुष्य! तू केवल ज्ञानार्जन में ही जीवन को व्यतीत मत कर डाल, किन्तु सत्य को प्राप्त करने के लिये भी प्रयत्न कर, क्योंकि सत्य तत्व को प्राप्त करने की अपेक्षा ज्ञान का सचय श्रेष्ठ नहीं है। इस लिए ज्ञान सचय को गौण बना कर सत्य तत्व की प्राप्ति को मुख्य बना। जीवन का ध्येय सत्य प्राप्त करना है न कि केवल ज्ञानार्जन, क्योंकि ज्ञानार्जन तो सत्य की प्राप्ति के लिये है।

ज्ञानव्यमस्ति खलु वस्तु यदीह तस्य,
विज्ञानमेव समुपास्यतया समुक्तम् ।

व्यर्थं ततो न कुरु यत्नमनर्थतत्व-

ज्ञानाय नैव समयप्रचुरोऽत्र तेऽस्ति ॥४॥

उन वस्तुओ को जानने से कोई लाभ नही है जो तुम्हें अपनी ओर नहीं ले जाती। जिन वस्तुओ को जानना चाहिए उन्हो का ज्ञान मनुष्य के लिए उपासनीय है। अतः प्रयोजनभूत पदार्थों को जानने के लिये तुम प्रयत्न करो, क्योंकि ऐसी व्यर्थ बातो को जानने के लिए तुम्हारे पास अधिक समय कहां है।

ज्ञात त्वया चेन्निखिलं हि वस्तु

न तेन किञ्चिद् यदि शिक्षितम्।

तत्सुन्दरं सत्यमथो शिवं वा,

लोकान्तरं गच्छति यज्जनेन ॥५॥

अगर तुमने सारी वस्तुओं को जान लिया है तो क्या हुआ जब तक तुमने सत्य तत्व को अपनाना नही सीखा तब तक उनका जानना व्यर्थ है। यह सत्य तत्व का ज्ञान ही आत्मा के साथ भवान्तर मे जाने वाला है।

असंशयं सोऽस्ति महान्वराको,

हली न यस्तिष्ठति पापमार्गे।

तज्ज्ञानिनो यो हि निमील्य चक्षुः,

स्वकीयपापे विविनक्ति तत्वम् ॥६॥

निःसन्देह वह गरीब हल चलाने वाला, जो कि पाप के मार्ग से भयभीत रहता है उस ज्ञानी से महान् है जो अपनी

बुराइयों पर आंखें मीच कर दूसरों के लिए तत्वों का विवेचन करता है।

जनैः स्तुतो नैव कदापि सः स्या-
दानन्दवान्यो हि निजस्वरूपम्।
जानाति सम्यक् न कदापि गर्वं,
करोति तुच्छं मनुते स्वमेव ॥७॥

जो मनुष्य अपने आपको जानता है वह दूसरे आदमियों के मुंह से अपनी स्तुति सुन कर प्रसन्न नहीं होता, क्योंकि वह अपने आपको एक तुच्छ मनुष्य मानता है। इस लिए वह अपनी प्रशंसा सुन कर कभी गर्व नहीं करता।

ज्ञानेन येषां न च कश्च नास्ति,
लाभो हि तेषामवबोध एव।
बुधात्र, भूतार्थ-विबोधने हि,
श्रमो विधेयस्तत एव नित्यम् ॥८॥

जिन पदार्थों के जानने से कोई लाभ नहीं उनको जानने का प्रयत्न करना बिल्कुल व्यर्थ है। इस लिये प्रयोजन भूत पदार्थों के ही ज्ञान करने के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये।

सर्वोत्तमं ज्ञानमिदं प्रदिष्टं विज्ञायते येन परो निजात्मा,
अनंततत्वावगमेऽपि किं स्यादात्मा न बुद्धो यदि मोहबद्धः

सब ज्ञानों में वह ज्ञान श्रेष्ठ माना गया है जिसके द्वारा

कर्ममल रहित आत्मा जाना जाता है। यदि कर्मबद्ध आत्मा को कर्मों से पृथक् नहीं जाना तो अन्य अनन्त पदार्थों के जान लेने से भी कोई लाभ नहीं है।

त्वं वीक्ष्य कांश्चित्खलु पापिनो वै,
श्रेष्ठं न मन्यस्व स्वयं कदापि।
त्वयापि पापानि कृतानि--पूर्व-
मसंभवं नैव करिष्यसे च ।।१०।

तुम कुछ पापियों को देख कर उनसे अपने आपको कभी श्रेष्ठ मत मानो, क्योंकि तुमने भी पहले अनेक बार पाप किए हैं और अब भी यह असम्भव नहीं है कि तुम कोई पाप कर सकते हो। तुम्हें पापियों को देख कर केवल उन पर दया करनी चाहिए।

यज्ज्ञानलिप्सापि नरस्य कश्चित्,
व्याधेर्विशेषोऽस्ति सुदुर्निवारः।
कुतोऽन्यथाऽपास्य विधेयमत्र,
ज्ञाने ह्यनर्थे सततं प्रयत्नः ।।११।।

ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान-लिप्सा भी मनुष्य के लिए एक व्याधि है। नहीं तो क्या कारण है कि वह इस दुर्लभ और अल्पकालिक मनुष्य जीवन में करने योग्य कृत्यों को छोड़ कर केवल अप्रयोजनभूत ज्ञान की प्राप्ति में लगा रहता है।

आकर्ण्य शंसां कुशलत्वमूलां,

तत्प्राप्तये नैव समुत्सुकः स्याः ।
ये कौशलं ज्ञानफलं वदन्ति,
ते बोधमूल्य न कदापि यन्ति ।१२।

सांसारिक कौशल के कारण होने वाली प्रशंसा को सुन कर तुम कभी उस कौशल को प्राप्त करने के लिए उत्सुकता मत करो; क्योंकि जो लोग ज्ञान का फल कौशल या चतुरता बतलाते है वे कभी ज्ञान के वास्तविक मूल्य को नही प्राप्त हो सकते ।

तत्वं प्रबुद्धं बहुभिर्न यस्य,
पारं न चाप्तं स हि बोधवार्धिः ।
उपासनीयोऽस्ति परं न चाप्यः,
तत् तात्विकं ज्ञानमुपार्जय त्वम् ।१३।

ज्ञान का समुद्र अगाध और अपार है । बहुतों ने उसके तल को नहीं छुआ और न उसके पार को पाया । इस लिये वह तो केवल उपासना की चीज है वह सभी के द्वारा प्राप्त होने के योग्य वस्तु नहीं । अतः केवल प्रयोजनभूत ज्ञान उपार्जन करना चाहिये ।

ज्ञानेप्सया ज्ञानमूल्यं नाप्यतेऽतो विचक्षणाः
केवलं ज्ञानमेवात्र नैव वाञ्छन्ति निष्फलम् ।।१४।।

सिर्फ ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से तो ज्ञान का मूल्य भी नहीं मिलता इस लिये विद्वान लोग केवल निष्फल ज्ञान की कभी

वांछा नहीं करते ।

वितण्डा-तर्क-जल्पादिर्ज्ञानदोषोऽस्ति केवलम् ।

विदुषां कौशलं ह्येतद् दर्शयंत्यभिमानिताम् ॥१५॥

वितण्डा +, तर्क ‡, जल्प * आदि ज्ञान के दोष है, इनसे ज्ञान के दुरुपयोग के अतिरिक्त कोई सार नहीं निकलता, इस लिये इनको दुष्ट ज्ञान के अतिरिक्त हम और कुछ नहीं कह सकते ये ज्ञान लिप्साके योग्य नहीं है। इन दुष्ट ज्ञानोंसे विद्वान (अपनी शाब्दिक विद्वत्ता के अभिमान रखने वाले दिखाऊ पण्डित) केवल अपनी विद्वत्ता के अभिमान को पुष्ट और प्रदर्शित किया करते है ।

मार्गावलोकने ज्ञानमपेक्ष्यमिति मन्यताम् ।

प्राप्य बोधं न ये मार्गं मर्मीक्षन्तेऽधमा हि ते ॥१६॥

+ अपना कोई पक्ष स्थापन किये बिना केवल प्रतिवादी के पक्ष पर आक्षेप किये जाना। प्रमाण, तर्क, छल या जाति के बल से, किसी भी तरह प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन कर देना, उसे टिकने न देना वितण्डा है ।

‡ व्यर्थ की दलीलें ।

* अपना कोई पक्ष रख कर प्रतिपक्षी का खण्डन करना और इसमें छल, जाति आदि के भी प्रयोग का सहारा लेना, तत्व निर्णय का कोई विचार न रख कर, केवल अपनी जीतका विचार रखना ।

ज्ञान तो केवल कर्तव्य मार्ग को जानने के लिये है। जो लोग उसे प्राप्त करके भी अपने मार्ग को नहीं देखते वे सचमुच जघन्य मनुष्य हैं।

सदाचारेण बोधस्य मूल्यमाख्यान्ति पण्डिताः।
ज्ञानलिप्सा न पूज्यास्ति सदाचारं विना ततः॥१७॥

विद्वान लोग ज्ञान का मूल्य सदाचार बतलाते है। यदि सदाचार न हो तो ज्ञानलिप्सा व्यर्थ है। ज्ञान-लिप्सा कोई उत्कृष्ट वस्तु नही, प्रशंसनीय तो सदाचार है।

यः केवलं ख्यातिनिमित्तमत्र,
ज्ञानं स्वकीयं कुरुते स मूर्खः।
ख्यातिर्हि पुंसोऽस्ति महान्तरायः,
समुत्थितो पापपथादमेध्यात् ।१८।

जो मनुष्य केवल अपनी नामवरी के लिए ज्ञान-उपार्जन करता है वह भी मूर्ख है। क्योकि ख्याति तो मनुष्य के उत्थान मे महान बाधक है जो आगे बढ़ना चाहता है उसे प्रसिद्धि से दूर रहना चाहिए।

निन्दां प्रशंसां समुपेक्षमाणः,
कार्यं स्वकीयं विदधज्जनो यः।
दत्ते न कर्णौ हि परस्य वाचि,
नूनं स बोधाप्तिफलं लभेत॥१९॥

जो मनुष्य निन्दा और प्रशंसा का कुछ भी खयाल न करता हुआ अपने कार्य को करता रहता है और दूसरों की बात पर कोई ध्यान नहीं देता वही वास्तव मे ज्ञान प्राप्ति के फल को पाता है।

विद्युत्प्रकाशो हि यथातितीव्रः,
करोति नेत्रे चकिते तथाति-
बोधोऽपि संक्षोभयतीह बुद्धिं,
नतोऽतिबोधात्सुफलः सुबोधः ।२०।

जैसे अति तीव्र बिजली का प्रकाश हमारे नेत्रोंको चकित कर देता है, वैसे ही अति तीव्र ज्ञान भी हमारी बुद्धि को व्याकुल कर देता है। इस लिए अतिज्ञानकी अपेक्षा थोड़ा भी सम्यग्ज्ञान सुन्दर फलदायक है, अधिक पूज्य है। उसे ही पाने की इच्छा करनी चाहिए।

निन्दा की प्रशंसा

निन्दां स्वकीयामुपकर्ण्य लोकात्,
कुरुष्व मोद्वेगमनर्थमूलम् ।
मार्गस्त्वदीयोऽस्ति परो न वेति,
यत्केवलं चिन्त्यमिहास्ति किन्तु ॥१॥

तुम दुनियां के मुंह से अपनी निन्दा या बुराई सुन कर कभी अपने हृदयमें उद्वेग पैदा मत होने दो, उद्वेग अनर्थोंकी जड है। अपनी बुराई या निंदा सुनकर जो मनुष्य धैर्य नही रखते, जल्दी से घबरा जाते है वे कर्तव्य अकर्तव्यका विचार भूलकर बहुधा अत्यन्त अनुचित काम भी कर डालते है और उद्वेगवश अपने हाथो अपना सर्वनाश करके पीछे बहुत पछताते है। इस लिए किसी के भी मुह से अपनी निन्दा सुनाई पड़ने पर घबराने की आवश्यकता नही है। केवल यही बात विचारणीय है कि तुम जो कुछ कर रहे हो वह भला है या बुरा। यदि वह वास्तवमे भला है तो उसकी झूठी या अज्ञान-वश किसीसे की गई बुराईकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता नही बल्कि आवश्यकता इस बातकी है कि अपने उस कार्य मे दृढ़ता से सलग्न होकर बुराई करने वालो को अज्ञानसे प्रकाशमे लाया जाय और यदि अपना काम वास्तव मे बुरा है तो उसे किसी के निन्दा न करने पर भी छोड़ देना चाहिए।

निन्दाविभीतस्तु जनः कदापि,
कार्यान्तमाप्नोति न मूढ़बुद्धिः।
इयं पिशाची सततं मनुष्यं,
यद् भीषयत्येव हि कल्पिताऽपि।२।

जो मनुष्य निन्दा से डरता है वह मूर्ख है, झूठी निन्दा से भय खाने वाला मनुष्य कभी अपने काम मे सफल नही होता। झूठी निन्दा से भय खाकर किसी सदुद्योग को छोड़ बैठना मूर्खता है। क्योंकि यह निन्दा एक राक्षसी के समान है, जो

कल्पित होने पर भी भय अवश्य उत्पन्न कर देती है, पर इसका निर्बल या कमजोर आत्माओं पर ही असर होता है और वे इस बनावटी हौए से डर कर अपने कार्यसे हट जानेके कारण अवश्य ही मूर्खों की कोटि में गिनने योग्य हैं। इस लिए किसी भी श्रेष्ठ कार्य को पूरा करने के लिए दुनियां की निन्दा की परवाह न करनी चाहिए।

नरो विनिन्दाश्रवणादपार्था-
द्बिभेति यो, नैव स पुरुषोऽस्ति।
लोकोत्तरं कार्यमपास्य भीतो,
निन्दाश्रुतेस्तिष्ठति सोऽस्ति मूर्खः।३।

जो व्यर्थ की निन्दा सुन कर घबरा जाता है वह वास्तव में पुरुष नहीं है। पुरुष नाम पाने का अधिकारी तो वह है जो निडर होकर लगातार अपने कार्यों को करता जाय। अकारण निन्दा सुन कर जो अपने महान् कार्यों को छोड़ देता है, ख्वामख्वाह निन्दा सुन कर डरने लगता है, और भले कार्यों के करने से भी उदास हो जाता है वह भी क्या पुरुष है ? वह तो महामूर्ख है।

पापान्वितो मूढमतिर्मनुष्यः,
किं नैकवारं लभते न शंसाम्।
पवित्रचित्तोऽपि विशिष्टबुद्धिः,
प्राप्नोति निन्दां बहुवारमत्र ॥४॥

इस संसार की कुछ हालत ही विचित्र है। यहां पापी और

मूर्ख मनुष्य क्या अनेक बार प्रशंसा नहीं पा लेते ? दुराचारियों और बेवकूफों की तारीफ करने वाले भी इस दुनियांमें है और ऐसे ही भले कामों की निन्दा करने वालों की भी यहां कमी नहीं है। बहुत बार सदाचारी विद्वानों की निन्दा भी लोग किया करते हैं।

विमुच्य निन्दायशसो भयेहे,
कर्तव्यगामी भव चेद्भवस्य-
साफल्यमाप्तुं तव चित्तमस्ति,
न चान्यथा सिद्धिसमागमः स्यात् ।५।

तुम निन्दा का डर और यश की कामना को छोड कर कर्तव्य मार्ग पर चलो, कर्तव्य की ओर देखो, इधर उधर की बातों पर ध्यान मत दो। यदि अपने मनुष्य जीवन को सफल बनाने की तुम्हारी इच्छा है तो यही तुम को करना होगा, अन्यथा तुम कभी सफल नहीं हो सकते।

निन्दाप्रशंसाश्रवणाय कर्णौ,
त्वं व्यापृतौ मा कुरु, किन्तु गच्छ-
लक्ष्यान्तमस्मिन्न कदापि कुर्याः,
प्रमादमित्येष महोपदेशः ॥६॥

तुम अपने कानों को निन्दा और प्रशंसा सुनने में मत लगाओ, किन्तु लक्ष्य तक पहुंचने की कोशिश करो, हमेशा यही विचारो कि मैं अपने उद्देश्य को किस प्रकार पूर्ण करू। इसमें

कभी प्रमाद मत करो। यही महान् उपदेश है, सब से बड़ी शिक्षा यही है।

निन्दाप्रशंसे कुरुतो मनुष्यान्,
विमार्गगान् द्राग्विदुषोऽपि नूनम्।
को विस्मयोऽस्तीह विमुग्धबुद्धिः
प्रतार्यते कीर्तिविनिन्दनाभ्याम्।७।

निन्दा और प्रशंसा विद्वान मनुष्यों को भी विपथगामी बना देती है, तब इसमे क्या आश्चर्य है कि इनके द्वारा मूर्ख मनुष्य ठग लिये जांय। अर्थात धोखे से उन्हें लुभा लिया जाय।

काङ्क्षन्ति ये कर्तुमिह प्रसन्नान्,
जनान्कदाचिन्न विदूषकास्ते।
क्षमा भवेयुः सुसमीहिताप्तौ,
प्रवञ्चका गोमुखसिंहकल्पाः।८।

जो लोग विदूषकों की तरह केवल दूसरे मनुष्यों को (किसी की झूठी निन्दा प्रशंसा आदि करके) प्रसन्न करना चाहते है वे कभी अपने सदनुष्ठान में सफल नही हो सकते। गोमुख व्याघ्र की तरह, ऊपर से दीन और वास्तव मे क्रूर उनकी थोड़े ही दिनोंमें कलई खुले बिना न रहेगी और भेद प्रकट हो जाने पर जब उन्हे कोई अपने पास न फटकने देगा तब वे अपने मनोरथ सफल कैसे बना सकेंगे?

'अशक्यमेवास्ति हि विश्वलोक-

सन्तोषकारित्वमि'-ति प्रसिद्धम् ।
एतद्विधातुं यतमानचित्ता,
अनेकशश्चापदमाप्नुवन्ति । ९॥

संसार के सब मनुष्यों को प्रसन्न कर सकना असम्भव है, कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे सब को खुश किया जा सके। बल्कि जो ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं वे अनेक आपत्तियों में फस जाते हैं। अपने मनोरथ को सफल नहीं करने पाते, अनेक कष्ट ही उठाते हैं।

सर्वान् प्रसन्नान् विदधद्भिरत्र,
विनाशितं किं न नरैः स्वकीयम्।
विपत्तिमाहूय करोति तस्याः,
स स्वागतं यः स्तुतिपाठकोऽस्ति ।१०।

सब को प्रसन्न करने की चेष्टा करने वाले लोगों ने इस संसार में अपना क्या नाश नहीं किया? अर्थात् अवश्य ही सब कुछ विनाश कर डाला। जो लोग स्तुति-पाठक हैं, अयोग्य आदमियों की भी तारीफ करते हैं और मूर्खों को चापलूसी से लुभाना चाहते हैं वे मानो स्वयं ही विपत्ति को बुलाकर उसका स्वागत करते हैं।

आकृष्य लोकं स्वपथादनर्घ्यात्,
निन्दाप्रशंसे नयता मनुष्यम्।

गर्तं महाभीतिकरं गभीरं, ततः
ममालोकय नैव ते त्वम् ॥११॥

निन्दा और प्रशंसा मनुष्य को अपने पवित्र मार्ग से खींच कर बुराइयों के महान् भयंकर गम्भीर गड्ढे में गिरा देती है, इस लिए तुम उनकी ओर मत देखो। उनकी ओर देखोगे तो तुम भी इस गहरे गड्ढे में गिरोगे और उन्नति न कर सकोगे।

अयं विमोहो विजितोऽस्ति येन,
सर्वं जितं तेन महात्मनैनः।
एको ह्ययं सर्वमनर्थमत्र—
सूते प्रसूते न गुणग्रहज्ञां ॥१२॥

जिसने निन्दा और प्रशंसा नामक विमोह को जीत लिया, उसने सब पापों को जीत लिया। क्योंकि यही अकेला सब अनर्थों को उत्पन्न करने वाला है और कभी गुणग्रहण की बुद्धि को उत्पन्न नहीं होने देता।

ततः कर्तव्यधीर्धीरः निन्दाशंसे न लोकयेत्।
किन्तु सत्यं शिवं रम्यं दृष्ट्वा कार्यं समाचरेत् ॥१३॥

इस लिए जिसे अपने कर्तव्य को करने का विचार है वह मनुष्य निन्दा और प्रशंसा की ओर ध्यान न दे। किन्तु वह जो कुछ कर रहा है वह सत्य, शिव और सुन्दर है, दुनियां का भला उसी से हो सकता है, यह खयाल कर अपना कार्य करता रहे।

भिक्षा

त्वद्दयालेशतो रिक्ता रक्ताः संसार-वस्तुषु ।

कदाचित् किं लभन्ते तां शान्तिमात्मोत्थितामिह ।१।

हे भगवन ! जो ससार की वस्तुओ मे आसक्त हैं और इसी लिए जिन पर जरा सी भी तुम्हारी दया नही हुई, क्या वे लोग इस दुनियां मे कभी आत्मिक सच्ची शान्ति को पा सकते हैं ? संसार की झंझटों मे फंसे रहने से उन्हे दुःख ही भोगना पड़ेगा, आत्मिक अनन्त सुख को वे कभी नही पा सकते।

त्वद्दयालेशतो लोके लभ्यते सर्वमंगलं ।

मङ्गलात्मा त्वमेवासि मंगदो मलनाशकः ॥२॥

हे भगवन् ! तुम्हारी दया के लेशमात्र से ससार मे सब प्रकार के मगल, सब कल्याण-सामग्रियां मिल जाती है । क्योंकि तुम्ही सब मगलों के केन्द्र हो । तुम्ही सुख के देने वाले और पापों का नाश करने वाले हो ।

मंगलाय स्थिरायाहमागतस्तव पादयोः ।

मङ्गलं प्राप्य यास्यामि, आग्रहो मे महानिति ॥३॥

हे भगवन ! हमेशा स्थिर रहने वाले मगल को प्राप्त करने के लिए ही मैं तुम्हारे चरणों में आया हूं । अब मैं उसे प्राप्त करके ही जाऊंगा । यही मेरा महान आग्रह है ।

सहानुभूतिः प्रियतानुकम्पा,

मैत्री प्रमोदोऽस्ति तव प्रसादे ।

माध्यस्थ्यमास्तिक्यशमप्रधानाः,

गुणा न चान्यत्र कदापि दृष्टाः ॥४॥

हे भगवन् ! जिनको मैंने अन्यत्र कभी न देखा, वे महानुभूति, प्रेम, दया मित्रता, प्रमोद, आस्तिक्य, माध्यस्थ्य, शान्ति आदि तमाम गुण आपकी कृपा दृष्टि में मौजूद है। आपके प्रसाद से ये सब गुण आसानी से अपने आप प्राप्त हो सकते हैं।

जिनेश ! भिक्षुर्भवतः समक्षं,

भिक्षामिमां योग्यतमां प्रयाचे ।

मनो मदीयं मयि रागमेतु,

विरागतां गच्छतु मत्परेषु ।५।

हे भगवन् ! मैं भिखारी बन कर आपके सामने यह मनोहर भिक्षा मांगता हूं कि मेरा मन मुझ में ही अनुरक्त हो, मेरी आत्मा के ध्यान मे ही लगा रहे और मुझ से भिन्न पदार्थों से वह विरक्त हो जावे।

त्वं यस्य याञ्चामुररीकरोषि,

ददासि यस्मै मनुजाय भिक्षाम् ।

न तस्य किञ्चित् कठिनं समस्ति,

समेति सर्वोऽभ्युदयोऽस्य लोके ।६।

हे भगवन् ! तुम जिसकी प्रार्थना को सुन लेते हो और प्रार्थना को स्वीकार करके भिक्षा दे देते हो, दुनियां मे उसके लिए कुछ भी पाना कठिन नहीं है, संसार का सारा अभ्युदय उसे अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।

उद्धारभूमिः प्रणतात्मनां त्वं,
पापीयसां चेन्ननु कोऽत्र शङ्का।
ममोद्धृतौ मोहमलीमसस्य,
त्वत्पादपीठे लुठितस्य नाथ ! ॥७॥

हे भगवन ! यदि तुम अपनी शरण मे आने वाले पापियों के उद्धार के कारण हो तो फिर मोह से मलीन, महा अज्ञानी, किन्तु आपके चरणों में लोटने वाले मेरे उद्धार मे भी क्या सन्देह है ? आपकी शरण मे रहने से मेरा उद्धार भी अवश्य हो ही जायगा।

त्वत्प्रार्थनायां न कदापि नाथ !
शैथिल्यमुत्पादयतु प्रमादः।
उत्थानरोधीति मदीययाञ्चा,
फलान्विता स्यादिति मेऽभिलाषः।८।

हे नाथ ! मेरा प्रमाद तुम्हारी प्रार्थना में कभी शिथिलता पैदा न करे। यह प्रमाद ही मेरे उत्थान में बाधक है। आप मेरी इस प्रार्थनाको अवश्य सफल कीजिए। बस, मेरी यही अभिलाषा है

मैं यही चाहता हूं।

निष्कामचेता स्थिरमानसश्च,
भूत्वा त्वदीयस्तवने विलग्नः।
कुर्यां मदीयं जननं पवित्र-
मितीह भिक्षां भगवन्! प्रयच्छ ॥९॥

हे भगवन्! मैं बिना किसी फल की इच्छा किये, स्थिर-चित्त से तुम्हारे स्तवन मे लगू और अपने जन्म को सफल पवित्र बनाऊं, मुझे यह भिक्षा दीजिए।

त्वत्सन्निधिर्नाथ! सुधास्ति नित्यं,
तव प्रतीक्षा मधुरा मनोज्ञा।
त्वन्नाम पूतं खलु पापिनं वै,
करोति विज्ञाः प्रवदन्ति चेत्थम् ॥१०॥

हे भगवन्! तुम्हारी समीपता अमृत है, सचमुच उसमें अमृत का सा फल है। तुम्हारी प्रतीक्षा मधुर और सुन्दर है। तुम्हारे नाम में ही इतनी सामर्थ्य है कि उससे पापी भी पवित्र बन जाते हैं, ऐसा ज्ञानवानों का कहना है।

वियोग-संयोग-निदान-रोगाः
प्राणातिपातप्रमुखं च पापं।
नित्यं मदीयां मलिनां करोति,
जनिं ततो रक्षतु हे कृपालो ॥११॥

हे दयालु भगवन्! इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, निदान (आगामी भोगों की चाह) और रोग-चिन्ता तथा हिंसा आदि पाप निरन्तर मेरे जन्म को अपवित्र कर रहे हैं अर्थात् आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान से मेरा जीवन सर्वदा कलुषित होता रहता है। मुझे इनसे बचाइए, रक्षा कीजिए।

विश्रामभूमिर्भगवंस्त्वमेव,
विपत्तिदारिद्र्यविमाननासु।
त्वयि स्थिरात्मा न कदापि पापै-
रालिप्तचेता भवतीह सत्यम् ॥१२॥

हे भगवन्! विपत्ति, दारिद्र्य और अपमान के समय तुम ही मेरे विश्राम-स्थान हो। तुम्हारे ही से मुझे इन प्रसंगों में सान्त्वना मिलती है। जिसका मन तुम में लगा हुआ है, जो तुम्हारे ध्यान में लीन है, वह सचमुच कभी पापों से लिप्त नहीं होता। हे भगवन्! मेरी रक्षा करो, मेरा चित्त तुम्हीं में लीन रहे, ऐसा वरदान दो।

सत्य-देवता

स धन्यः स प्रशस्तात्मा स चानन्दमयो ध्रुवम्।
प्रकाशयति यत्स्वान्त शिवं सत्यं निरावृति ॥१॥

वह धन्य है, वह प्रशंसनीय है और वही निःसन्देह

आनन्दमय है, जिसके अन्तःकरण को जगत-कल्याणकारी सत्य ने निरावरण रूप से प्रकाशित किया है। अर्थात् जिसकी आत्मा में परिपूर्ण सत्य प्रकट हुआ है वही उपासनीय है।

अन्यत्सर्वं व्यपास्याशु प्राप्तव्या सत्यदेवता।
यस्याः प्राप्तौ न चाप्राप्तं किञ्चिदस्ति जगत्त्रये।२।

अन्य सब को छोड़ कर शीघ्र से शीघ्र सत्य-देवता की शरण में जाना चाहिये यही प्राप्त करने योग्य पदार्थ है। क्योंकि इसके प्राप्त हो जाने पर तीनों लोकोंमे फिर कोई ऐसी चीज नहीं रह जाती, जिसका मिलना दुर्लभ होवे या जिसे प्राप्त करने की फिर चेष्टा करनी पड़े।

मार्गणे ऽपरवस्तूनां यो यत्नं कुरुते जनः।
सत्यं त्यक्त्वा स मूर्खोऽस्ति तेन किञ्चिन्न लभ्यते ।३।

जो मनुष्य सत्य को छोड़कर अन्य वस्तुओं के खोजने में प्रयत्न करता है निःसन्देह वह मूर्ख है। ऐसे मनुष्य का प्रयत्न बिल्कुल ही व्यर्थ होता है उसे अपने परिश्रम का कुछ भी फल नहीं मिलता।

सत्यं प्रकाशयति यस्य मनः पवित्रं।
सत्याय यो निखिलदुःखमुरीकरोति॥
सत्यं विहाय न च जीवनमस्ति यस्याऽ-
सौ सेव्यपादयुगलोऽस्ति समस्तलोके ॥४॥

जिसका मन सत्य के द्वारा प्रकाशित होने से पवित्र हो गया है, जो सत्य के लिए समस्त दुःखों को स्वीकार कर लेता है और जिसका जीवन सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है अर्थात सत्य ही जिसके जीवन का सर्वस्व है, ऐसे मनुष्य के चरण-युगल, संसार में सर्वत्र पूजा के योग्य हैं, उनकी सन्निधि मे सब को अपना जीवन बिताना चाहिए।

इदं महद्दुःखमयं जनो यत्,
अस्थायि-निःसारपदार्थमार्गे।
कालं स्वकीयं गमयन्न वेत्ति,
सत्याख्यदेवस्य महत्त्वमत्र ।५।

यह बडे दुःख की बात है कि यह मनुष्य क्षणभंगुर और निःसार पदार्थों की खोज मे अपना सारा समय (जीवन) बिताता हुआ सत्य नाम के महान् देवता के महत्त्व को बिल्कुल नहीं जानता, सत्य की उपासना से क्या लाभ है, इसका पता ही नहीं पाता।

यस्य पूजा विधातव्या तिरस्कारस्तु तस्य यैः।
कुतस्तेषान्न मुक्तिः स्यात् कदाचिदपि पापिनाम् ॥६॥

जिसकी पूजा करनी चाहिए थी उस सत्य देवता का जिन्होंने तिरस्कार किया उन पापियों की कभी मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि दुःखों से मुक्ति तो सत्य की उपासना से ही मिलती है। उसके तिरस्कार से तो अधःपतन ही होता है, संसार के अनेक दुःख ही सहने पड़ते हैं।

सर्वोपदेशो निखिला च नीतिः,
नद्यो यथा सत्य-समुद्रगाः स्युः ।
आदेशनीती न ततः कदाचित्,
सत्य विना ग्राह्यतया प्रदिष्टे ।७।

नदियां जिस तरह अन्त में समुद्र से जाकर मिलती हैं उसी प्रकार समस्त उपदेश और सम्पूर्ण नीति अन्त में अपना सत्य से सम्बन्ध रखती है। सत्य के साथ उनका अन्तिम मेल होता है। इस लिए कोई भी नीति अथवा उसके उपदेश सत्य के बिना ग्राह्य नहीं बताये गये, सत्य का अंश विद्यमान होने पर ही उनकी महानता मानी गई है।

न सत्य-शिक्षा सदृशी परा स्यात्,
शिक्षा ततो यत्र न सत्यमस्ति ।
ग्राह्या न सा मोहमलीमसाङ्गा,
सत्याप्तिकामैः पुरुषैर्महद्भिः ॥८॥

सत्य की शिक्षा के समान संसार में दूसरी कोई उत्कृष्ट शिक्षा नहीं है। इस लिए जिस शिक्षा में सत्य न हो उस मोह से मलीन (अज्ञान-पूर्ण) शिक्षा को, सत्य को प्राप्त करने की इच्छा वाले महान् पुरुषों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

सत्याधारं जगत्सर्वं सत्याधारा च मेदिनी।
सत्याधारं समुत्थानं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।६।

यह सारा संसार सत्य के ही आधार है, यह पृथ्वी भी सत्य के आधार से ही डटी हुई है और ससार का उत्थान भी सत्य के आश्रय से ही हो सकता है। सार यह है कि सब कुछ सत्य के अवलम्बन से ही प्रतिष्ठित है। यदि सत्य का सहारा न हो तो सारे संसार की प्रलय हो जावे और दुनियां मे हाहाकार मच जावे।

समर्चितेऽस्मिन् निखिलाः समर्चिताः
सत्याख्यदेवे महनीयनामनि।
ततो विहायाशु परं प्रपंच-
मयं समर्च्यो हितमिप्सुभिर्जनैः।१०।

जिसका नाम ही पवित्र और महानता को सूचित करता है ऐसे सत्य देवता के पूज लेने पर ऐसा कोई पूजनीय पदार्थ नही रह जाता, जिसकी पूजा न हो गई हो। इस लिए अन्य सब प्रपंचो को छोड कर अपना हित चाहने वालों को इस सत्य नाम के देवता की पूजा करनी चाहिए।

शास्त्राण्यधीत्यापि न यैः समादृतः
सत्याह्वदेवो न च ते समादृता-
भवन्ति, तैः ख्यातियशोभिलाषया,
विद्या गृहीता निखिला न तत्वतः।११

जिन्होंने शास्त्रों को पढ़ कर भी सत्यदेवता का आदर नहीं किया, दुनियां में वे कहीं भी आदर नहीं पाते। ऐसे आदमियो

ने जो भी कुछ पढ़ा है वह सब अपनी नामवरी और यश की इच्छा से पढ़ा है, तात्विक रूप से नहीं। वास्तवमे विद्या पढ़ने का जो उद्देश्य है उसे उन्होंने नहीं पाया।

कर्तव्येत्तणाम्

आनन्दावसरे व्यक्त-शान्ति-भक्ति-दयादितः।
दुःखे सहिष्णुता धैर्यनम्रतादि महान् गुणः ॥१॥

आनन्द के समय उत्पन्न शान्ति भक्ति और दया आदि की अपेक्षा, दुःख के समय सहनशीलता, धैर्य और नम्रता धारण करना अधिक कार्यकारी है।

त्वद्विरोधे जनैरुक्तं श्रुत्वा मा व्यथितो भव।
किन्तु सज्जाऽस्तु हे भद्र! श्रोतुं ते प्रतिकूलताम् ॥२॥

हे भद्र! अपने विरोध में दूसरे लोगों की कही हुई बातों को सुन कर तू दुःखी मत बन। किन्तु अपने प्रतिकूल लोगों की बातों को सुनने के लिए भी तैयार रह। कर्तव्य की दृष्टि से उनको भी सहनशीलताके साथ सुन और उनका भी तू स्वागत कर।

मापत्तिं वीक्ष्य शत्रून् वा भवाधीरो विपत्तयः—
पराक्रान्ते जनं वारं न दीनं ताः स्पृशन्ति हि ३।

तुम आपत्ति अथवा शत्रुओं को देख कर कभी अधीर

मत बनो। क्योंकि विपत्तियां तो वीर पुरुषों की परीक्षा लेने को आती हैं, निर्बलों को तो वे छूती भी नहीं।

विपद्भिर्जीवनं यस्य गुणैश्चापि सुसंगतम्।
तस्य जीवनमुत्कृष्टं वदन्ति मनुजेश्वराः ॥४॥

भगवान ने उन लोगों के जीवन को उत्कृष्ट बताया है, जिनका जीवन गुणों के साथ २ विपत्तियों से भी मिला हुआ है। सद्गुणों की प्राप्ति के साथ २ बुराइयों के विरुद्ध लगने की महान तपस्या भी जिन्होंने की है।

यज्जीवनं तद्घटनाभिपूर्णं,
तासा प्रकारा द्विविधाः समुक्ताः।
इष्टा अनिष्टाश्च तता न तासु,
विद्वेषरागौ प्रविधेहि धीमन् ॥५॥

जो भी जीवन है वह घटनाओं से परिपूर्ण है। क्योंकि जीवन का कोई भी क्षण घटना-हीन व्यतीत नहीं होता। वे घटनाएं दो प्रकार की हैं—इष्ट और अनिष्ट। इनमें राग और द्वेष करने से लाभ कुछ नहीं है, आकुलताएं और बढ़ती हैं, इस लिये बुद्धिमान को उचित है कि वह राग-द्वेष न करे और अपना कर्तव्य करता चला जाय।

मूढं मनुष्यं हि समाविशन्ति शोकादयो नित्यमनर्थमूलाः।
तत्वज्ञबुद्धेः खलु पंडितात्तु स्वयं द्रवन्ति प्रबला इमेऽपि ।६

महान अनर्थ की जड़ शोक, भय आदि मूर्ख मनुष्य पर

ही अपना असर कर पाते हैं उसे ही सदा सताते रहते हैं, किन्तु वास्तविकता का ज्ञान रखने वाले चतुर मनुष्य से तो यह आपत्तियां, प्रबल होती हुई भी, स्वय डर कर भाग जाती हैं, उसके पास नहीं आतीं।

नार्कं न वाञ्छन् निरयं द्विषन्न,
कर्तव्यबुद्धिः मनुजः स्वकीयं—
कुर्वन् मनोज्ञं सततं स्वकर्म,
न सम्पदः पश्यति नापदोऽपि ॥७॥

विवेक के बल से अपने कर्तव्य को समझने वाला मनुष्य न स्वर्ग की इच्छा करता है और न नरक से द्वेष करता है, वह तो केवल अपने सुन्दर कार्य को निरन्तर करता रहता है, सम्पत्ति और आपदाओं की ओर भी नही देखता।

मौनं मनुष्यस्य महान् गुणोऽस्ति,
सर्वापदानेन विनाशमेति।
ईशोऽपि मौनेन भवेत्प्रसन्नो,
मौनं ततोऽङ्गीकुरु हे मनुष्य! ॥८॥

मौन मनुष्य का महान गुण है। इससे सब आपत्तियां नष्ट हो जाती हैं। और की क्या बात, मौन से परमात्मा भी प्रसन्न हो जाता है। इस लिये हे मनुष्य! तू मौन को अङ्गीकार कर। बाहिरी किचकिच में न फंस कर अन्तर्दृष्टि रखा कर।

राक्षसा: दुर्जनाकारा: मौनं वीक्ष्य न चेशते ।

प्रसन्ना: सज्जनाकारा देवा: नूनं भवन्त्यत: ॥६॥

मौन को देखकर दुर्जनाकार राक्षस हताश हो जाते हैं। मौन रखने वाले मनुष्य के सामने उनकी एक भी नही चलती और सज्जनाकार देव तो इससे ही प्रसन्न हो जाते है ।

मत्स्या: प्रकृतेर्मौनं स्वभावोऽस्तीत्यवेक्ष्य ये ।

मौनेन कर्म कुर्वन्ति ते वन्द्या: धीमतामिह ॥१०॥

समस्त प्रकृति का स्वभाव मौन है - यह ख्याल कर जो लोग मौन-पूर्वक अपना काम करते रहते हैं वे बुद्धिमानों के भी पूज्य हैं ।

तत्त्वस्य निर्णयादेव सर्वं दुःख प्रणश्यति ।

तस्माद्दुःखप्रणाशार्थं तत्वनिर्णीतिमाभज ॥११॥

तत्व के निर्णय, वास्तविकता के ज्ञान या असलियत की पहिचान से ही सब दुःख मिट सकते है इस लिये तत्व-निर्णीति की उपासना करो, असलियत को पहिचानने की कोशिश करो ।

आलस्य-शत्रुः

धन्या जनास्ते खलु यैर्निरस्त,

आलस्यशत्रुः परमार्थविघ्नः ।

त एव यस्माद् विजयं लभन्ते,

श्रियं समृद्धि सकलांश्च कामान् ॥१॥

वे लोग धन्य है जिन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि मे विघ्न-स्वरूप आलस्य नाम के शत्रु को नष्ट कर दिया है। क्योकि आलस्य को नाश कर देने वाले लोग ही विजय को पाते है उन्हें ही श्री (लक्ष्मी) और समृद्धि प्राप्त होती है और उन्ही की सब कामनाए पूर्ण होती है।

तितीषवः क्लेश-समुद्रतो ये,

व्यपास्य तैः सर्वमपार्थमन्यत्।

आलस्यनाशः प्रथम विधेयः,

न चान्यथा क्लेशजयः कदाचित् ॥२॥

जो लोग क्लेशो के समुद्र को तैरना चाहते है, महान दुःखों के पाश से अपने को मुक्त करना चाहते है, उनको उचित है कि अन्य सब व्यर्थ बातों को छोड कर सर्व प्रथम आलस्य का नाश करें। अन्यथा वे कभी क्लेशो पर विजय नही पा सकेंगे। आलस्य मे फसे रहने से अनेक दुःख उन्हें आ घेरेंगे।

आलस्यसत्वे न च साधनानि,

कुर्वन्ति काश्चिच्च मनोरथाप्ति—

मेकं त्वनालस्यमशेषमैश्य-

मसंशयं प्रापयतीह शीघ्रम् ॥३॥

आलस्य के रहते हुए उन्नति के सब साधन बेकार हो जाते हैं, आलस्य की सत्ता मे बलवान अनेक साधनों के रहते हुए भी उनका उपयोग न होने से मनोरथ सफल नहीं हो सकते। अतः आलस्य पर विजय पाओ, उसे मटियामेट कर डालो, एक काम करने में उत्साह होने से ही तुम्हें सब ऐश्वर्य अतिशीघ्र अपने आप प्राप्त हो जावेंगे।

न चालसा मोक्षमवाप्नुवन्ति,
संसारसाफल्यमतो व्युपैति ।
आलस्यशत्रोर्न परोऽस्ति शत्रुः,
मनुष्यजातेरिति निश्चितं वै ॥४॥

आलसी आदमी मोक्ष नहीं पाते, वे कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकते। सांसारिक कार्यों में सफलता भी उनसे कोसों दूर रहती है। मनुष्य जाति का आलस्य से बढ़कर कोई शत्रु नहीं, यह सुनिश्चित है।

ये कालमूल्यं न नरा विमूढा,
जानन्ति तैर्व्यर्थमिदं नृजन्म--
प्राप्तं, यतो निम्नतमाः क्षिपन्ति,
कालं न कीटा अपि बुद्धिहीनाः ॥५॥

जो समय का मूल्य नहीं समझते उनका मनुष्य जन्म पाना भी व्यर्थ ही है, क्योंकि बुद्धिहीन कीट, पतंग आदि निम्न

श्रेणी के प्राणी भी समय को व्यर्थ नहीं खोते। आलस्य में पड़े रहने वाले मनुष्य उनसे भी गये गुजरे हैं और जीवन के समय का सदुपयोग न करने से उनका मनुष्य जन्म पाना भी व्यर्थ ही है।

यो मक्षिका कीट-पतंग-भृङ्ग—
नहर्निशं व्यस्ततमानपीह।
समीक्ष्य कालं क्षिपति स्वकीयं,
ततोऽस्ति को मूढतमो मनुष्यः ॥६॥

जो मनुष्य मक्खी, चींटी, पतंगे, भौंरे आदि जानवरों को भी प्रतिक्षण काम में लगे हुए देख कर भी अपना समय व्यर्थ खोता रहता है उससे अधिक मूर्ख कौन होगा?

कालो हि चिन्तामणिरस्ति नूनं,
सदोपयुक्तो यदि मानवेन।
कल्पद्रुमः काल इहास्ति सत्यं,
कालो न तस्मात्समुपेक्षणीयः ॥७॥

यदि अच्छी तरह से उपयोग में लाया जाय तो समय ही चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान फल देता है। इस लिए समय की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, उसे व्यर्थ नहीं खोना चाहिए।

बिन्दुक्रमेणेह घटं विलोक्य,
प्रपूरितं कज्जलसंचयं वा।

वल्मीकिसन्दोहमथो निरीक्ष्य,

गृहाण शिक्षां यदि चेन्नितीषुः ।

बूंद २ डालने से घड़ा भर जाता है, थोड़ा २ काम में लेने से काजल बीत जाता है, कीड़ियां थोड़ा २ बल्मीकि खोदी हुई मिट्टी) का कितना ढेर इकट्ठा कर देती है। इन सब बातों को देख कर यदि तू अपनी उन्नति चाहता है तो कुछ शिक्षा ग्रहण कर। निरन्तर काम कर, आलसी मत बन। थोड़ा २ करने से भी तू बहुत बड़ा काम कर लेगा और आलस्य के वशीभूत रहेगा तो कुछ भी नहीं कर सकेगा।

अकर्मकृत्तिष्ठतु नैव नैव सत्कर्मनिष्ठस्तु तथा सदैव ।
ये कर्मनिष्ठां परित्यज्य जन्म समापयन्तीह न ते मनुष्याः ६

कभी भी बेकार मत बैठे रहो। सदा सत्कार्य में निष्ठा रख कर कुछ न कुछ करते रहो। जो लोग काम करना छोड़ कर बेकार बैठे रहते हैं वे मनुष्य नही हैं।

लेखनेऽध्ययने ध्यानेऽतान्यस्मिन् वाथ कर्मणि ।

विलग्नः सफल कालं स्वकार्यं कुरु हे जन! ११।

सब आपत्तियों के पनपने की जगह आलस्य ही है। आल-सियों के कभी विपत्तियां अर्थात् दुःख दूर नही होते। आलस्य मनुष्य जीवन का बड़ा भारी कलक है।

सर्वापदानां विनिवासभूमि-

रालस्यमेवास्ति न चालसानां ।

विपत्तयो नाशमवाप्नुवन्ति,

ह्यालस्यमेवास्ति नरः कलङ्कः ।१०।

हे मनुष्य ! इस लिए तू लिखने में, पढ़ने मे, ध्यान (प्रार्थना आदि धर्म ध्यान) में अथवा अन्य किसी उपयोगी काम मे लग कर काल को सफल कर, अपने जीवन के समय को सफल बना ।

भावना-विवेक

—पर—

लोक-मत

यदि आपने 'भावना-विवेक' नहीं देखा है तो आज ही मंगा कर इस ग्रन्थ का स्वाध्याय कीजिये। षोडश कारण भावनाओं का ऐसा वर्णन आज तक उपलब्ध किसी भी जैन ग्रन्थ में एकत्र नहीं पाया जाता था। श्री पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष— श्री दि० जैन महापाठशाला ने जैन संसार को यह अपूर्व कृति भेंट की है। श्री पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ ने इसका अनुवाद भी बड़ी तत्परता के साथ किया है। इसकी प्रशंसा में हम कुछ नहीं लिखते। नीचे जैन पत्रों की आलोचना और कुछ जैन विद्वानों के अभिमत पढ़ने की कृपा कीजिये।

'जैन–सन्देश' :—

.... मूल तथा अनुवाद में प्रत्येक भावना से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रीय विषयों का अच्छा परिचय कराया गया है। मूल रचना संस्कृत पद्यों में है और साथ में प्रत्येक पद्य का विशद अर्थ तथा विस्तृत भावार्थ दिया है। संस्कृत रचना बड़ी ही मनोहर है। उसे पढ़ने में बड़ा ही आनन्द आता है। इस समय के पण्डितों में संस्कृत में ग्रन्थ निर्माण करने की प्रवृत्ति का प्रायः

लोप सा हो गया है; किन्तु पं० चैनसुखदास जी ने उस प्रवृत्ति को पुनः उद्भूत ही नहीं किया किन्तु अपनी रचना के द्वारा जैन संस्कृत साहित्य को एक सुन्दर कृति भेंट की है। इस सुन्दर रचना के लिये हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं। अनुवाद भी तदनुरूप ही हुआ है। इसे पढ़ने से स्वाध्यायप्रेमियो को जैन सिद्धान्त की बहुत सी बातें एक ही स्थान पर पढ़ने का सुअवसर मिलेगा। विद्वान लोग भी यदि इसको एक बार देखने का कष्ट करें तो उन्हें सन्तोष और प्रसन्नता होगी।

'परवार बन्धु' :—

'सोलह कारण भावना' से जैन समाज खूब परिचित है। ये भावनाएं 'तीर्थंकर' प्रकृति के बन्ध की कारणीभूत हैं। समाज के अधिकांश स्त्री-पुरुष इस निमित्त से व्रत, उपवास प्रभावना आदि करते व हजारों रुपया प्रतिवर्ष खर्च करते हैं. परन्तु ये भावनाएं क्या हैं उनके सम्बन्ध में कोई ऐसा साहित्य न था जिसे पढ़कर वे यह जान सकते। विद्वान ग्रन्थकार ने ३०६ श्लोकों में आधुनिक ढङ्ग से विशद और सरल रीति से उक्त विषय को ग्रन्थ में वर्णित किया है।...... व्रती पुरुषों को तथा सर्व साधारण को इसका खास स्वाध्याय लाभप्रद व आवश्यक है। पृष्ठ संख्या २८८ मूल्य १॥

'जैन-मित्र' :—

......सोलहकारण धर्म पर इतना विस्तृत विवेचन प्रथम बार ही प्रकट हुआ है। पं० जी ने बड़ा परिश्रम करके इसको